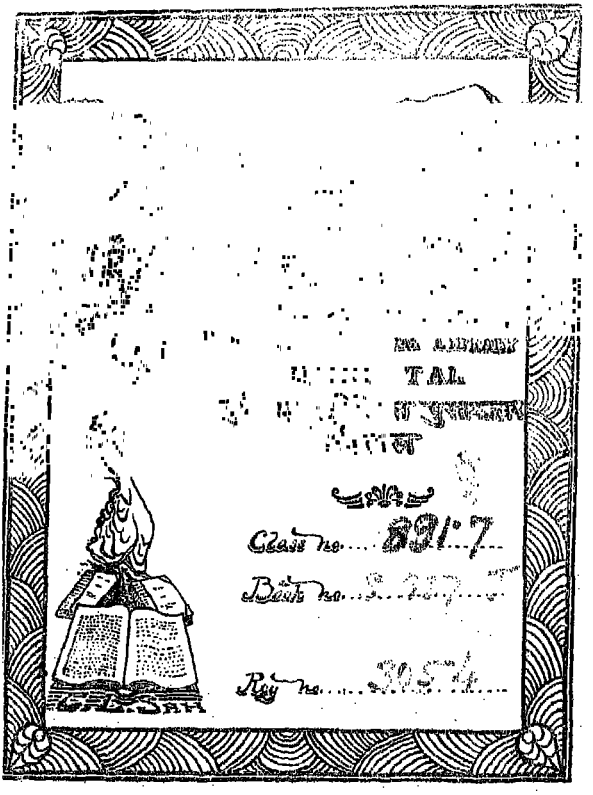
TAL
Class no. 891.7
Book no. 227
Reg no. 3954

हिन्दी का कथा-साहित्य बहुत आगे आ चुका है। अब तक तो हम दूसरों से लेते ही रहे पर आज हमें यह कहते हुए हर्ष हो रहा है कि हमारा कथा-साहित्य आज दूसरों को कुछ देने लायक बन गया है और बन रहा है। कथा साहित्य को इस द्रुत गति से आगे ले आने में जिन कलाकारों का हम नामोल्लेख करते हैं श्री सत्यदेव शर्मा जी उनमें से एक हैं। आप एकांत के साधक हैं। मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर आप अपनी कहानी की भित्ति रखते हैं। आपकी कहानी की टेकनीक बिल्कुल निराली है। भाषा में अद्भुत आकर्षण है और शैली में है अद्भुत लोच। राजधानी के कथा साहित्यिकों में आप विशेष परिगणनीय हैं।

तस्वीर का फ्रेम

लेखक
सत्यदेव 'शर्मा'

न व यु ग प्र का श न
नई देहली

प्रकाशक
नवयुग प्रकाशन
६२७६, मुलतानी ढान्डा
नई दिल्ली

मूल्य दो रुपए

मुद्रक—श्री कैलाश प्रिंटिंग प्रेस, चरखे वालान, देहली।

अनुक्रमणिका

दो शब्द नहीं पूरे दो पृष्ठ	पृष्ठ संख्या
१—परमेसरी	६
२—घुघलाल	१५
३—दिव्य दान	२१
४—सन्ती	३२
५—एक लड़की और सारा दफ्तर	४३
६—नुगदी के दाने	५२
७—मोह की ज्वाला	६१
८—काजल की रेखा	७३
९—अभिशाप	८३
१०—कुरूपता का वरदान	९४
११—कला की वेदी पर	१०१
१२—सुहाग के कंगन	१०८
१३—देवता इन्सान या पत्थर	११६
१४—तसवीर का फ्रेम	१२३

पूज्य-चरण पिता श्री

(पं० हंसराज जी शास्त्री)

के कर कमलों में—

दो शब्द नहीं, पूरे दो पृष्ठ

डाक्टर किसी मित्र के यहां रोगी को देखने जाए और रोगी की दशा निराशाजनक हो तो अपनी फ़ीस लेने में संकोच तो अवश्य दिखाता है, परन्तु मुँह से न, न, करते हुए भी उसे स्वीकार कर रुपये जेब में डाल लेता है। कुछ ऐसा ही संकोच और बनावटी उपेक्षा ऐसे बड़े आदमियों···(मेरा मतलब बड़े लेखकों से है) में भी देखी जाती है जो अपने बारे में पत्र-पत्रिकाओं में लिखवाने के सम्बन्ध में बड़े सतर्क, सचेष्ट और सतृष्ण रहते हैं। ऐसे भी जिनके बारे में काफ़ी कुछ लिखा जाता है, परन्तु मैं तो बिना किसी संकोच के खुले आम यह कहता हूँ—

काश···मेरे बारे में कोई और लिखता, नादान दोस्त, या फिर दाना दुश्मन। नादान दोस्त, इसलिए, कि कुछ न होने पर भी वह तारीफ के पुल बांध देता, और यह तारीफ के पुल कुछ न होकर भी तारीफ़ के ढेर तो होते ही, भली हो, बुरी हो अपनी प्रशंसा किसे अच्छी नहीं लगती, रही दाना दुश्मन की बात, सो उसकी बुराई में भी कुछ बात ज़रूर होती जो अकेली एक ही तारीफ के पुलों पर हावी हो जाती, अब दोनों ओर से निराशा ही है, कहने वाला, न तो नादान दोस्त मिला, न दाना दुश्मन ही। तो अपनी बात खुद कहनी ही पड़ती है, मजबूरी है, लेकिन सच बात तो यह है कि अपने सम्बन्ध में खुद कहा भी क्या जाए, अपनी तारीफ खुद की आप तो दुनिया बुरा मानती है, तब कीजिए अपनी बुराई, यह भी कैसे हो सकता है, खुद अपने को बुरा कहने लगो तो दूसरे भला कहने से रहे। अजीब परेशानी है।

निराश व्यक्ति : (Frustrated) अपने भाग्य से, अपने सम्बन्धियों से और अपने आप से गिला करने (ग्रम्पलिंग) का आदी हो जाता है, ऐसे ही कुछ अपनी भी आदत हो गई है, अकेले बैठे कुछ यों ही गिले शिकवे कर रहे थे, कि इतने में हमारी घर वाली बोल उठीं—

'तुम भी तब योंही बड़बड़ाया करते हो, तुम्हीं अच्छे हो जाओ

सब दुनिया बेवकूफ है···अच्छा यह बताओ तुम क्या हो, बहुत बड़े कवि ।

'न'

बहुत बड़े कहानी लेखक

'न'

बहुत बड़े नाट्यकार, पत्रकार, एडीटर, प्लीडर, लीडर कुछ तो ।

कुछ भी नहीं···तो फिर इतनी चिल्ल-पों काहे मचाया करते हो ? आजी, मुझे कोई समझ ही न सका, मैं क्या हूं और मैं क्या कर सकता हूं···

अपनी यह हालत थी कि 'काटो तो लोहू नहीं बदन में', और झिलमिलाने से हो गये, दूध के उफान से सब गरमाये ऊपर तक उठे पर कड़ाही जलेगी तो अपने ही किनारे जलायेगी, ठीक ही तो कहती है, पर मन में धीरज कहां, अपने को संतोष कैसे दिया जाये, आखिर मन ही तो है, सूझ गई, बड़े न सही छोटे-मोटे कवि, कहानी-लेखक, थोड़े से नाट्यकार, पत्रकार, ये थोड़ा-थोड़ा सब मिलाया जाए तो क्या कुछ भी न होगा । बड़ों को ही जीने का अधिकार है, छोटों को नहीं, फिर कल ये छोटे ही आज के बड़े हैं, छोटों का अस्तित्व न हो तो बड़े भी न रहें, या हम हैं, कुछ न कुछ तो हैं ही (और कुछ न होते हुए भी बहुत कुछ हैं, या यूँ कह लीजिए बहुत कुछ होते हुए भी कुछ नहीं), और तो छोड़िए, कहानी लेखक के रूप में तो आपके सामने हैं ही ।

इन कहानियों को पढ़िए, और इन में बसे हुए कहानी-लेखक को ढूँढ़िये और बताइये यह कितना बड़ा, छोटा या कैसा है । यदि आपको इनमें कहीं अच्छा खासा कहानी-लेखक दिखाई न दे तो चुप रहिए, क्योंकि यह तो मैं भी जानता हूं और मुझ से भी पहले पत्नी जानती है, जिसे बिलकुल न जानना चाहिए, मेरी बीवी, कि मैं नवलेख या लेखक हूं, हां ! इतना मुझे विश्वास है ये कहानियां उतनी नवलेख नहीं । आप, न भी पढ़ना चाहें तो ये जबरस आपको बुला लेंगी, आपसे बातें करेंगी, फिर इन्हें छेड़ कर तो देखिए ।

(१८।११, हरीपार्वत, देहली) सत्यदेव शर्मा ।

परमेसरी

परमेसरी के हृदय में आज एक अजीब सी हलचल मची हुई थी। अद्‌भुत, सा एक द्वन्द्व छिड़ा हुआ था। वह बूढ़ी थी उसका दिल भी बूढ़ा था, लेकिन जमाना जवान था, इस जवान जमाने के साथ-साथ कदम मिला कर वह चल न सकती थी, न इसके साथ उसका कुछ मेल ही था। अपने अतीत को लिए हुये बीते जमाने के बोझ को अपने ऊपर लादे उसे ही अपना पाथेय बनाए वह जिन्दगी के दिन गुज़ार रही थी। उसी बीते दिनों में वह जब-तब जी लेती थी, नौजवान जमाने की ओर से, भरी रहती थी परन्तु उसके अस्तित्व की सच्चाई से उसे इन्कार न था, न उसके मार्ग में वह रोड़ा ही बनती थी, बहाव को रोकना उसके बस की बात न थी, वह तो घाट का पत्थर थी बस लुढ़क जाने के लिये, यों ही उसके दिन गुज़रते जा रहे थे। वह बहुत बूढ़ी थी पर उसकी बीनाई अच्छी थी, चलती फिरती भी थी, खा-पी लेती थी, हाँ सुनती कम थी, इसलिए बोलती भी अधिक न थी। देखती जरूर रहती थी, और अपने आप ही बातें किया करती थी, अपने अतीत को जिन्दा करके उसी में सांस लेती थी, और इसी तरह उसका जीवन चला जा रहा था परन्तु आज की घटना ने तो उसे बुरी तरह खदेड़ दिया, एक छोटे से जौहड़ में कोई भैंसा फिर आय और सारे पानी को खंगाल दे, ठिके हुये पानी में एक तलातम-सा पैदा होकर

सारा पानी गंदला हो जाये, बस इसी तरह परमेसरी के दिल में सोये हुये पुराने ज़माने को नये जमाने की एक घटना ने झंझोड़ दिया, कच्ची नींद में जागे हुये बच्चे की तरह परमेसरी के दिल में पुराना जमाना तड़प-तड़प कर शोर मचाने लगा। नीचे से ऊपर तक की मिट्टी एक हो गयी, उसी गर्द-गुबार में वह बहुत से पुराने और धुंधले चित्र देखने लगी, और आज के यह सजीव चित्र भी उसके सामने ही नाच रहे थे। सब गड्डमड्ड हो रहा था, परन्तु दोनों की तुलना भी होती जा रही थी, जो बीत गया है वह अब झूठ है। आज के युग में उसका निशान ही मुश्किल से मिलता है, परन्तु वह कितना सुन्दर लगता है। वर्तमान सत्य सा कटु है तो भी सच है। वह उसे झुठला नहीं सकती, आज की बहुत सी बातों को वह उचित समझती है। परन्तु उसका वर्षों पुराना दिल और दिमाग़ अनहोनी घटनाओं के साथ एकरूपता स्थापित नहीं कर पाता।

परमेसरी के माथे पर त्योरियाँ और चेहरे पर मुस्कान फैल रही थी फीकी सी जैसे बड़ी गहराई से मीलों दूर से खींच कर लाई गई हो।

आज उसके पोते की लड़की का नामकरण हो रहा है। घर आंगन में मेहमान जमा है। बड़ी चहल-पहल है। मिठाई बंट रही है। शहनाइयां बज रही हैं। नाम करण, वह भी लड़की का, यह हंसी खुशी, इतनी चहल-पहल, यह सारी घटना उसके लिये नितान्त अनहोनी थी फिर भी हो रही थी, वह हैरान थी, यह सब सच है या सपना। सपने का विचार आते ही उसका मन और मस्तिष्क अतीत में घूम जाता है। वह अभी छोटी ही थी ४-५ वर्ष की, उसके दो बड़े भाई थे, पर बहिन न थी, बड़े भाई बात-बात में तंग किया करते थे। तब उसे एक दिन मालूम हुआ उसके बहिन हुई छोटी सी, गुड़िया सी; वह बड़ी खुश थी। छोटी सी बहिन को देखने, वह माँ की ओर लपकी, तो माँ ने झिड़क दिया, चल कलमुही तू ही क्या कम थी कि एक और

आ गई। घर में जैसे शोक सा मनाया जा रहा था, दादी अलग माँ को कोस रही थी, गनीमत यह थी कि दादी को लड़की पैदा होने की बात का पहले पता न चल सका वरना वो उसे पैदा ही न होने देती, या फिर जाने क्या करती! परमेसरी को वह दिन भी याद आ रहा था जब वह सात-आठ वर्ष की थी, उसकी बूढ़ी बुआ चौके में खाना बना रही थी, दोनों भैया खाने बैठे थे, बड़े ने कहा, 'बुआ मेरी तरकारी में घी और छोड़ दे', छोटा बोला, 'बुआ मेरे लिये पराठा बना दे'। बुआ खुशी-खुशी उसके लिये पराठा बनाने लगी, खूब घी में तर; इतने में परमेसरी बोल उठी, "बुआ मैं भी पराठा ही खाऊँगी"। बुआ तो सीख पा गई, "चल यहाँ से, मुंडी काटी! तू पराठे खा-खाकर मुटयाएगी, दूसरों का घर ही तो बसाना है, लड़के घर का खायेंगे तो घर के लिये कमायेंगे, लड़कों को खाते देख जलती है।" बेचारी अपना सा मुंह ले के रह गई, रो-रो कर सारा घर सिर पर उठा लिया परन्तु कुछ न बना। पास बैठी माँ भी चुप रही, कुछ दिलासा न दे सकी।

इतने में बाहिर कुछ शोर सा हुआ, परमेसरी अतीत से वर्तमान में आ गई, उसके विचारों का तार टूट गया और वह देखने लगी, उसका पोता कुलदीप नवजात बच्ची को गोद में लिए आँगन की ओर चला आ रहा था। पीछे-पीछे बहू थी, रेशमी साड़ी पहिने, गोरा-गोरा खुला मुँह, मुख पर मुस्कान, कहीं घूंघट का नाम नहीं, कोई संकोच नहीं, लोग बधाई दे रहे हैं। सब देख रहे हैं और फिर भी वह गिर नहीं पड़ती, वह कुलदीप के साथ ही आसन पर जा बैठी, और पंडित जी ने हवन-पूजन प्रारम्भ किया, परमेसरी ज्यादह देर तक यह दृश्य न देख सकी और अपने बीते जमाने में पहुँच गई।

मेरी भी शादी हुई थी। वर्षों बीत गये कभी आँख भर कर बिशनी के बापू को न देखा। वह दिन भर बाहर काम करता रहता था। रात गई घर आता था। मैं सास के पास सोती थी और वह अपने पिता के पास बाहर दालान में पड़ जाता था। बात करने को भी मन तरस जाता

था, अँधेरे सवेरे कभी आता तो माँ से चोरी-छिपे कभी सलाई का होना, कभी पाव आध पाव जलेबी, एक आध मीठी सलोनी बात, और बस। शायद दिन में कहीं देख ले तो मुझे पहचान भी न सके, और मैं भी उसे कहाँ पहचान पाती, मां कहीं हमें बात करते देख पाए तो शायद घर में जीना हराम हो जाये, मेरा भी और उसका भी। हाँ, बच्चे हुये; भाग्य में लिखे थे, इसलिये, और उसने मरते दम तक कभी मेरा नाम नहीं लिया। सास ससुर के परलोक सिधारने के बाद ही पुकारने की जरूरत पड़ने लगी थी तो बाहर से ही आवाज देता था, विशनी ओ विशनी ए। विशनी मेरी लड़की ससुराल जा चुकी थी, मैं समझ जाती थी मुझे ही बुला रहा है। मैं आवाज़ देती आई विशनी का चाचा...

मैंने भी जीवन भर उसका नाम नहीं लिया पर एक दिन उसे शरारत सूझी, आते ही पूछने लगा तुम्हारी मौसी का लड़का पिछले वर्ष आस्ट्रे लिया गया था उसे एक पत्र लिखना है, नाम ही भूल गया, क्या नाम है उसका।

मैंने झट कह दिया; माया दास; वह ताली पीट कर हँस दिया ले लिया न मेरा नाम।

मैं खिसियानी होकर रह गई, भूल में तो भगवान भी क्षमा कर देता है। तब मैंने उसे पहली बार आँख भर कर देखा था। उसने कहा था, क्या देख रही हो मेरी तरफ इस तरह घूर-घूर कर।

मैंने एक ठंडी सांस भरी, 'जवानी में तुम कितने सुन्दर लगते होगे। तुम्हें तब तो यों आँख भर कर न देख सकी।

वह हँस दिया, 'कभी अपनी सूरत भी शीशे में देखी है। अपने वक्त में तुम्हारे जैसी एक भी जवान लड़की न रही होगी।

परमेसरी जैसे बुढ़ापे में जवान हो उठी हो, उसकी आंखों में एक अजीब चमक पैदा हो गई, उधर घर में शहनाई बज रही थी, लोग आ-जा रहे थे, मेहमानों का स्वागत हो रहा था, किसी ने कहा, भई

कुलदीप लड़की तो अपनी माँ को पड़ी है।

लड़की, परमेसरी सोच रही थी मेरे भी लड़की हुई थी, सास ने पहले ही कहा था, अगर लड़की हुई तो घर से निकाल दूंगी, भूखों मार दूँगी। मैं तो यों ही लाज के मारे मरी जा रही थी, कुछ समझ न थी, आठ वर्ष की ब्याही गई, आठ वर्ष बाद गौना हुआ था, कुछ न जानती थी, बच्चे को कैसे उठाए फिरूंगी, सब के सामने, मर ही तो जाऊँगी, और लड़की हुई तो...मेरे भाई के भी लड़की हुई थी, तो माँ ने उसे जाने कैसे जीती छोड़ दिया। यहाँ मैं भी एक कठोर सास के पल्ले पड़ी थी, क्या होगा। पड़ोस में एक वर्षों की बसती रहती लुगाई थी, पुरानी हो चुकी थी, उससे अकेले में पूछा, कहने लगी लड़की हो तो जनते ही उसका टेंटुआ दबा देना, फिर लड़के ही होंगे। यह भी एक टूना है, लड़की हुई तो तेरी बात कोई न पूछेगा।

इतना सोचते-सोचते परमेसरी ने फुरेरी ली, जैसे उसे प्रसव पीड़ा हो रही हो। उधर शहनाई ज्यादा ज़ोर से गूंज उठी। परमेसरी के घर में भी शहनाई बजी थी जब नाहर सिंह पैदा हुआ था, पहली लड़की के बाद नाहर के पैदा होते ही बूढ़ा बापू मर गया था। सफू और भफू दोनों बैल बीमार होकर स्वर्ग सिधार गये थे, जमीन रहन हो गई थी, गाँव छोड़ शहर आना पड़ा था, और जब सयाना हुआ तो नाहर और उसकी बहू ने जब तक जीते रहे मुझे नाकों चने चबवाये थे। उस नाहर ने जिसके लिये मैंने फूल सी कोमल बच्ची...परमेसरी की आंखों में आँसू आ गये, उसके हाथ भिंच गये, वह दृश्य धुंधला होकर फिर स्पष्ट हो गया, दाई ने कान में कहा, परमेसरी लड़की हुई है, और परमेसरी ने फूल सी बच्ची का टेंटुआ दबा दिया, उसने दम तोड़ दिया, बच्ची पैदा होते ही मर गई। किसी को इतना भी मलाल न हुआ जितना तिनका टूटने पर हो। सब काम यों ही चलने लगे, परन्तु परमेसरी के दिल पर एक बोझ सा पड़ गया था। जीवन में एक शून्यता सी, एक खला सा रहता था। शून्य में दूर तक आँख फैलाए परमेसरी शायद

उसी बच्ची को देख रही थी, उस युग की मरी हुई लड़की ही इस युग में उसके सामने नये रूप में आ गई थी, शायद परमेसरी को गुँह चिढ़ाने। परमेसरी के हाथ भिंच गये थे, पूरे ज़ोर से, शायद वह नये ज़माने का गला घोंट रही थी, जो उसके साथ मेल नहीं खाता था, शायद उस पुरानी घटना का गला अपने हाथों से घोंट कर उसका अस्तित्व मिटाना चाहती हो। इतने में कुलदीप लड्डू लेकर आया, दादी जी लो लड्डू खाओ, तुम्हारी पोती का नाम रखा है, प्रमिला, परन्तु दादी उस समय जाने कहाँ पहुँच चुकी थी।

चुघलाल

मास्टर···चुघलाल···क्षमा कीजिए, शुरू में ही ज़बान ! नहीं क़लम गोता खाने लगी। मास्टर नहीं, प्रोफ़ेसर सी० एल०—असल में जो चुघलाल ही थे—को कौन नहीं जानता हालाँकि वह कई सालों से प्रोफ़ेसर हैं। हिस्ट्री और एकोनोमिक्स यानि इतिहास और अर्थ-शास्त्र के, क्योंकि उन्होंने दो नहीं, तीन विषयों में एम० ए० किया है और बी० टी० भी हैं, तो भी लोग उन्हें मास्टर ही कहते हैं। मेरे मुँह से भी पहले मास्टर ही निकला। सितम तो यह कि उनकी बीवी भी जो ज़्यादा नहीं, कुछ पढ़ी-लिखी तो हैं ही, उन्हें मास्टर जी ही कहती हैं। और प्रोफ़ेसर साहब चिढ़ जाते हैं। कारण यह कि कालिज के प्रोफ़ेसर होने से पहले मुद्दत तक मास्टर जी ही रहे और सच तो यह है कि उन पर मास्टर जी गालिब आ गये, प्रोफ़ेसरपना अभी तक उतना असर नहीं कर सका। उनके अध्यवसाय और मेहनत की दर किसी को दाद देनी होगी, क्योंकि कौलिज का मुँह देखे बिना ही उन्होंने तीनों एम० ए० पास किये। अर्थशास्त्र के वे पारंगत ही नहीं उसे जीवन में उन्होंने ढाल लिया है, फल यह हुआ शुरू से सारा वेतन तो बैंक में जमा कराते आ रहे हैं, बीवी को एक पाई भी नहीं दिखाते, अपना उनका खर्च ट्यूशन से चलता है और बीवी पास पड़ौसियों के कपड़े सी कर गुज़ारा करती है। खाने की उन्हें चिन्ता नहीं, सर्दी हो या गर्मी हो, उनकी जेबें मूँगफली से भरी रहती हैं और मूँगफली

चबाते रहते हैं, तो भूख कम लगती है अनाज बच जाता है। उनकी घरवाली को अपने प्रोफ़ेसर पर बड़ा गर्व है। हो भी क्यों न, अर्थशास्त्र के साथ-साथ इतिहास का भी उनके जीवन पर कम गहरा प्रभाव नहीं, स्कूल में पढ़ाते थे तो अन्दर गले का कोट और खुला पायजामा पहनते थे। कालिज में आने के बाद इन पर ज़माने ने असर किया, खुले गले का कोट और पैंट पहनने लगे। लेकिन सिर का जामनी रंग का साफा और पाँव का सलीमशाही जूता जमाना इसलफ़ की यादगार के तौर पर अब भी मौजूद है। हाथ में छड़ी जरूर रहती है, स्कूल में लड़कों पर इसका प्रयोग होता था। लेकिन कालिज में शायद यह अपने बचाव की चीज़ है और घर में बीवी को धमकाने का साधन। ख़ैर तो ऐसे ही हैं प्रोफ़ेसर खुशवक्त। दूर से ही आप इन्हें पहचान जायेंगे।

एक विशेष बात उनके बारे में सूझी जा रही है. गर्मी के दिन छुट्टी हो तो दोपहर के समय इन्हें आप घर पर नहीं पा सकेंगे। किसी बाग या सुनसान बंगले में वृक्ष पर बैठे मूंगफली चबाते हुए मिलेंगे। गर्मियों में कालिज आते समय गर्म सूट पहनते रहते हैं हैं न विज्ञान की करामात। गर्म चाय गर्मियों में ठंडक पहुंचाती है तो गर्म कपड़ा जिस्म को लू से बचाता है। उसी तरह जैसे टाट या बोरी बरफ की रक्षा करती है। और सर्दियों आएँ तो सफेद खद्दे का सूट पहनते हैं। उनके हर काम का समय नियत है। घर में यदि बीवी से बातें करने को दिल चाहा तो वह बेचारी जाड़ा सर पटके, खाने का समय हो, मेहमान ही क्यों न रखी हो, प्रोफेसर साहिब बात करते जायेंगे, और उनके पढ़ने का समय हो तो किस्मत की मारी बीवी फारिग होकर कोई ज़रूरी बात करने आये तो बस कुछ न पूछिए। बीवी तो क्या पड़ोसियों तक पर मुसीबत का पहाड़ टूट पड़ता है, प्रोफेसर साहिब और उनकी धर्मपत्नी का ओज ऐसा समझिए जैसे दो आदमी पीठ जोड़ कर बैठ जायें। और बंधे बंधे चलने की

कोशिश करें। तो भी प्रोफेसर सुखलाल उनकी गृहलक्ष्मी सुलक्खी की जिंदगी की गाड़ी चलती चली जा रही है। गाड़ी अड़ जाती है, दिनों तक अड़ी रहती है तो भी क्या परवाह जिन्दगी तो भागती रहती है। देखने-सुनने वालों का कहना है कि उन्हें आपस में कभी सुख की बात करते नहीं देखा, या तो घर में दोनों के रहते भी मौन का राज्य रहता है या फिर हंगामा; दोनों प्राणियों का हंगामा जो एक तूफान पर भी हावी रहता है। एक और बात की चिन्ता जो विशेषकर पड़ोसियों को सताती रहती है, वह है प्रोफेसर की बैंक में जमा होती पूंजी, जो सैंकड़ों से हजारों तक पहुंच गई है। अब लाख के करीब होती जाती है, उसका क्या बनेगा, उनकी चिन्ता व्यर्थ है। प्रो० सुखलाल के यहाँ उसका वारिस भी पैदा हो जाएगा। सुलक्खी देवी तो मंत्र तंत्र में भी विश्वास रखती है। और इसके अतिरिक्त पड़ोसी इस बात की कल्पना भी नहीं कर सके कि प्रो० साहिब यह मकान छोड़ जायेंगे यह तो वह चाहते भी नहीं। उनका अपना जीवन नीरस हो जायेगा। इस पर पड़ोसी भी नहीं चाहते कि प्रो० साहिब यह मकान छोड़ कर चले जायँ। आप पूछेंगे! वह क्यों? एकाध घटना सुने बगैर आप मानेंगे भी नहीं, तो सुन ही लीजिए···

उस दिन कालिज में अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर न आये थे, प्रोफ़ेसर साहिब का पीरयड खाली था, उन्हें उधर भेज दिया गया। आखिर सुखलाल ने भी तो इंग्लिश में एम० ए० किया था। लड़कों को पढ़ाने लगे। एक मन चले को क्या सूझी, खड़ा हो गया और पूछने लगा, प्रोफैसर साहिब आप तो बड़े विद्वान हैं। बताइये तो चारपाई के सांचे को अंग्रेजी में क्या कहते हैं। आश्चर्य चकित हो उनके मुँह से निकला। है?...चारपाई का सांचा, दो मिनट खामोश रहे। इतने में लड़कों ने हाँ हाँ हाँ साहिब सांचा यानी चारपाई का सोका कोरस गाना शुरू कर दिया। चारपाई का सांचा, बेचारे सुखलाल क्या करते क्लास छोड़ कर बाहर चले आये, तबियत बेचैन हो गई, घर

पहुंचे तो दिमाग पर वही चारपाई का सांधा चढा हुआ था। बोलते जा रहे थे यह चारपाई का साँधा न हुआ जान का बवाल हो गया, मैं कहता हूँ यह छोकरे पढ़ने आते हैं या चारपाई के साँधे गिनने आते हैं। मैं कहता हूं, कुछ बोलती क्यों नहीं, मैं क्या यों ही बक रहा हूँ।

अब वह बेचारी क्या बोलती और क्या समझती। तो मैं कब कहती हूँ बकते रहना चाहिये। आप थके-हारे होंगे, कपड़े उतारिये, खाना तैयार है, खाइये और तब आराम से बात कीजिए।

तब तक प्रोफेसर अन्दर आ चुके थे, कपड़े उतार रहे थे, कि चारपाई पर नज़र पड़ी, यह क्या...उनके बिस्तर पर क्या पड़ा था। कुछ-कुछ अंधेरा था, उन्हें ऐसा लगा जैसे प्याजी रंग का भारी का गोला उनके बिस्तर पर पड़ा हो, बस ताव आ गया, यहाँ आराम किसे नसीब है। यह देखो गोला और सूई, मेरी चारपाई पर रखी है। अभी बैठ जाता तो जाने क्या होता। मैं कहता हूँ, तुमने तो व्यर्थ ही जन्म लेकर धरती का बोझ बढ़ाया। बुद्धि तो तुम्हारे हिस्से आई ही नहीं।

क्या हो गया, कुछ कहिये भी, क्या लड़कों ने कालिज में कुछ उधम मचा दिया जो आते ही आते मुझ पर बरसने लगे।

यह देख रही हो क्या रक्खा है देखूं तो। आ की आँखें तो एकोनोमिक्स के सिवा और कुछ देखती ही नहीं, मेरी आँखों से देखिए, यह प्याज है। ऊपर की छत से प्याज उठाने आई थी, एक यहाँ गिर गया।

प्याज है तो और भी बुरी बात है, तुम्हारी इस लापरवाही से तो घर चौपट हुआ जा रहा है। अभी मैं बैठता तो यह प्याज पिचक जाता, बस जाया हो जाता, मान लो यह प्याज एक दमड़ी का है, एक प्याज रोज यों नष्ट हो तो तीन दिन में एक पैसा और बारह दिन में एक आना—यानी चार पैसे, सौ साल भर, दस साल में, बीस साल में

तीस साल में इतने पैसे खराब जायें कि उनकी छत छा ली जाये। समझी! इतना नुकसान और तुम्हारे विचार में यह बात ही कुछ नहीं।

मैं तो इसको बहुत मानती हूँ। पर अब चल के खाना तो खा लीजिए।

तुम्हें खाने की पड़ी है, मेरा दिल बैठा जाता है। मैं कहता हूँ तुमने एकोनोमिक्स नहीं पढ़ी।

मेरे पिता मक्खीचूस नहीं थे जो ऐसी-ऐसी बातों का ध्यान रखते, चूल्हे में जाये आपकी एकोनोमिक्स।

चूल्हे में जाओ तुम और तुम्हारा यह घरबार। मेरे प्रिय विषय एकोनोमिक्स को गालियाँ देने लगी।

और मुआमला बढ़ चला। इतने में प्रोफेसर भागे-भागे आये। भाई साहब। जरा मेरे यहां तो आइये। बस एक क्षण के लिये।

मैं चल पड़ा, उनके घर पहुंचते ही क्या देखता हूं। मेरी धर्मपत्नी विराजमान हैं, और प्रोफेसरानी उनसे अपनी सफाई पेश कर रही हैं।

तुम्हीं बताओ बहिन यदि मैंने एकोनोमिक्स नहीं पढ़ी तो यह कोई ऐसा दोष है कि यह लड़ाई मोल लें, खाना न खायें, मेरी सिलाई की मशीन तोड़ने दौड़े। प्राण भले ही दे दूं अपनी मशीन कैसे तुड़वा लूं।

प्रोफेसर साहिब मुझे लेकर पहुंचे तो बोले...भाई साहिब, आप ही फैसला कीजिए, ऐसी पत्नी से कैसे निर्वाह हो सकता है जो किसी चीज़ का ध्यान न रखे, बात करते हुए यह भी न सोचे कि क्या कह रही है। आप तो जानते हैं कि एकोनोमिक्स मेरा प्यारा विषय है, मैं इस पर जान छिड़कता हूँ। यह इसे चूल्हे में फेंकने की बातें कहती है। मैं कहता हूँ इससे बड़ी बेवफाई, इससे बड़ा अत्याचार, और क्या होगा। इतने में प्रोफेसर की बीवी भी अपने बचाव और तुम्हारा हमले के लिये तैयार होने लगी। पहले तो मेरी बीवी से ही बोली, देखो बहिन तुम्हीं सच-सच कहो, ऐसे आदमी से निर्वाह कैसे हो सकता है।

तुम्हारा की हालत न पूछिए, जलती पर जैसे तेल पड़ा। तो

कहता कौन है निर्वाह करो। मैं तुम्हारे बाप से मिन्नत करने गया था। हम दोनों मियाँ-बीबी हैरान थे, आखिर आँख बचा कर भाग खड़े हुए। प्रोफेसर और उसकी पत्नी में जाने कब तक चलती रही। चलती ही रहती है और न जाने कब तक चलती रहेगी। दोनों का निर्वाह नहीं होता, फिर भी निभती जा रही है। न तो प्रोफेसर ही घर आना बन्द करते हैं और न उनकी बीवी ही घर छोड़कर कहीं जाती है, लेकिन आये दिन झगड़ा होता है, सालस भी बुलाये जाते हैं, फैसला फिर भी नहीं हो पाता। और उनकी गाड़ी रुकी रहती है। जिन्दगी चलती चली जाती है। ऐसे ही हैं प्रोफैसर चुघलाल।

दिव्य-दान

यदि आपने इल्मुद्दीन को नहीं देखा तो आपने कुछ नहीं देखा। मुझे उस नगर को छोड़े बरसों बीत चुके हैं, मगर अब भी उस शहर का नक्शा मेरी आँखों के सामने आता है तो सबसे पहले इल्मुद्दीन की शक्ल ही दिखाई देती है। उस शहर की रंगीनियाँ, उस शहर के बाज़ार, दरो-दीवार तक नहीं भूलते तो इल्मुद्दीन भी नहीं भूलता।

इल्मुद्दीन अब तक काफी बूढ़ा हो चुका होगा, और यह भी कैसे कहा जा सकता है कि वह जीवित ही है। अन्धा इल्मुद्दीन हाथ में बंगोरी थामे तहमद बांधे, बदन पर गाढ़े की कमीज पहने, सिर पर गुलाबी पाग सजाए, फाटक के भीतर बाग़ में एक ही स्थान पर खड़ा दिखाई देता था, जैसे वह मील का पत्थर हो। मील का पत्थर भले ही अपनी जगह से हिल जाए लेकिन इल्मुद्दीन को लोग सुबह से शाम तक वहीं खड़ा पाते थे। जिस बाग़ में वह खड़ा होता था उसमें प्रायः और भी भिखमंगे रहते थे, ऐसे आवारा लोग जिन्हें सिर छिपाने की कोई जगह न थी, इसी बाग़ में निश्चिन्त हो आराम करते थे। सर्दियों में नहर के किनारे कपड़े धोते और धूप में बैठ कर जूँएँ मारते थे, गड़ीज़, रन्दे और बेकार इन्सान। जूँएँ मारने में वक्त भी कट जाता था और दिल भी खूब जमता था। इसीलिए शायद लोग उसे जूँ बाग़ भी कहा करते थे और बाग़ के बीचोंबीच जाने वाली सड़क और छोटे से नाले के साथ-साथ, कदम-कदम पर

यह जूँ मार दिखाई देते थे जो सुबह-शाम गली-कूंचों में माँगने निकल जाते थे, दोपहर को जूँ बाग़ में आराम करते और जूँएँ मारते।

इल्मुद्दीन उन्हीं में से एक था फिर भी इनसे बहुत अलग। वह जूँएँ न मार सकता था, क्योंकि अन्धा था, भीख माँगने भी कहीं न जाता था, जा ही न सकता था, क्योंकि कोई उसका संगी-साथी न था जो उसे लिए-लिए फिरता। वह तो अपनी जगह पर अटल खड़ा रहता। वह कहां से आया है, उसके माँ बाप कौन थे, जन्म का अन्धा है या बाद में अन्धा हुआ, इसकी किसी को कुछ खबर नहीं थी। दिन भर बाग़ के एक कोने में खड़ा रहने के बाद रात को कहाँ जाता है, कहाँ सोता है, इसका भी किसी को कुछ पता न था, और न ही इस तथ्य को जान लेने की किसी को कोई आवश्यकता ही थी। हाँ, इतना सब जानते थे कि वह इल्मुद्दीन है और अंधा है। इसके अतिरिक्त उसके सम्बन्ध में कभी-कभी ऐसी बातें भी सुनने में आती थीं जिन पर विश्वास करने को जी न करता था।

इल्मुद्दीन भिखमंगा ज़रूर था परन्तु साधारण भिखारियों की तरह गिड़गिड़ा कर भीख माँगते उसे कभी किसी ने नहीं देखा। भीख मांगने का भी उसका अपना एक अन्दाज़ था, एक अनोखी अदा, एक अजीब सा अक्खड़पन। अपने मुँह में कुछ बुदबुदाता, क्या? सम्भव है किसी के कुछ न देने पर अपने भाग्य को कोसता हो, परन्तु वह ऐसा जीवन था जो भाग्य को दोष दे, अन्धा ज़रूर था, दृष्टि जैसी प्रकृति की अनमोल देन से रहित, तो भी उसे किसी ने इस विषय में शिकायत करते नहीं सुना। सबसे अद्भुत बात उसमें यह थी कि वह पैसा, टका, आना, दुअन्नी, रोटी, कपड़ा कुछ न माँगता था। उसकी एक ही सदा थी:—

हमें भी दिला जा,
हमें भी खिला जा,

और जब कोई उसे कुछ न खिलाता या दिलाता तो ज़रा ऊँची आवाज़ से कह उठता:—

"अन्धे, देखते नहीं मैं अन्धा हूं, बनावटी अन्धा नहीं, टकसाली अन्धा हूं।"

और वह अपनी आँखों के पपोटे हाथ की उँगलियों से खोलकर दिखाने की कोशिश करता, जिससे कि देखने वाले को विश्वास हो जाए कि वह वास्तव में अन्धा है, यह उसकी आदत सी हो गई थी। और तब वह आने जाने वालों पर व्यंग्यबाण छोड़ता—

"खुद खाते हो हमें नहीं खिलाते।"

कभी कोई राह चलता पूछ बैठता—

"क्या खाओगे साईं?"

इल्मुद्दीन जैसे तड़प उठता—

"यह भी भला पूछने की बात है।"

बात असल में यह थी कि इल्मुद्दीन जिस स्थान पर खड़ा होता था उसके सामने ही एक खोमचे वाला बैठता था और वह हल्वा पूड़ा बेचता था। जिस तरह इल्मुद्दीन वर्षों से वहाँ भीख मांगता आ रहा था, उसी तरह वर्षों से यह खोमचे वाला भी वहीं बैठता आ रहा था। घटिया किस्म के वनस्पति तेल का हल्वा और मैदे के पूड़े वह बेचता था।

खोमचे वाला अपने ख़ास अन्दाज़ और ख़ास आवाज़ में ग्राहकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए आवाज़ लगाता—हल्वा पूड़ी, तो उसके साथ ही सुर में सुर मिलाकर लेकिन ज़रा धीमी आवाज़ में इल्मुद्दीन बोल उठता—

"हमें भी दिला जा,
हमें भी खिला जा।"

खोमचे वाले का पंचम स्वर, इल्मुद्दीन के षड्ज में मिल कर एक अद्भुत रस पैदा कर देता था। ग्राहक न मिले तो खोमचे वाला खीज

उठता था और इल्मुद्दीन के माथे पर बल पड़ जाते थे, आँखें चढ़ जाती थीं। खोमचे वाला मुद्दत से वहीं हलवा पूड़ा बेचता चला आ रहा था,, इल्मुद्दीन भी वहीं दो कदम की दूरी पर वर्षों से खड़ा भीख माँगता चला आ रहा था, तो भी खोमचे वाले ने उस अन्धे पर तरस खा कर कभी थोड़ा सा हलवा या पूड़ा नहीं दिया। देने की बात तो अलग, आपस में कभी दुआ-सलाम तक नहीं हुई। इल्मुद्दीन भी उसके ग्राहकों से तो भले ही कुछ मांग लेता और वे यथाशक्ति कुछ दे भी जाते लेकिन खोमचे वाले से कभी स्नेह भरे दो शब्दों की भी आशा नहीं की और न कभी उससे बातचीत ही की, जैसे दोनों प्रतिद्वन्द्वी हों, दोनों के काम अलग-अलग थे इस पर भी दोनों के जीवन में एक गहरा ताल-मेल था। खोमचे वाले के पास ग्राहक आने से उतनी प्रसन्नता शायद उसे न होती थी, जितनी कि इल्मुद्दीन को, और ग्राहक के आने का पता भी शायद खोमचे वाले को बाद में ही लगता था पर इल्मुद्दीन न जाने किस विद्या के बल पर यह जान लेता था कि ग्राहक आ गया और झट अपने ख़ास अन्दाज़ से कहने लगता—

"दाता हमें भी दिला जा,
ख़ुद खा तो हमें भी खिला जा।"

साथ ही खोमचे वाले की आवाज़ उभरती—'हलवा पूड़ी गरम'। खोमचे वाले की तीखी और ऊँची आवाज़ इल्मुद्दीन की पुकार को ऊपर न उभरने देती। सम्भव है खोमचे वाला जान-बूझ कर ऐसा करता हो जिससे कि उसके ग्राहक का ध्यान हलवे पूड़े से हट कर इल्मुद्दीन की ओर न चला जाए। उधर इल्मुद्दीन के हृदय में आशा और निराशा की लहरें किसी विक्षुब्ध सागर की तरंगों की तरह उठने और डूबने लगतीं। वह धड़कते दिल से ग्राहक की आवाज़ की प्रतीक्षा करता। भाग्य ने साथ दिया और ग्राहक का ध्यान इल्मुद्दीन की सदा पर गया तो वह पूछता—

"क्या चाहते हो साईं?"

इल्मुद्दीन को जैसे काठ मार जाता, कुछ न कह सकता, बहुत यत्न किया तो उसकी ज़बान से केवल इतनी ही बात निकलती—"खा जा खिला जा" दरवेश और क्या चाहेगा।

ग्राहक या तो अपने खरीदे हुए सौदे में से कुछ इल्मुद्दीन के पात्र में डाल देता या अलग खरीद कर दे जाता और इल्मुद्दीन वहाँ खड़ा-खड़ा इतना पूड़ा चट कर जाता। उसकी ज़बान के चटखारे दाता को काफी दूर तक सुनाई देते, उन्हीं चटखारों द्वारा ही जैसे इल्मुद्दीन के दिल की दुआएँ उसके कानों तक पहुँचती हों। इसके विपरीत यदि कोई ग्राहक पूरा हलवा खरीद कर चल दे और इल्मुद्दीन की ओर बिलकुल ध्यान न दे तो इल्मुद्दीन तड़प उठता। वाणी कर्कश और तीखी हो जाती—

अंधे हैं; देखते नहीं, मैं अन्धा हूँ—और फिर वह अपनी उँगलियों से अपनी आँखों को इस ढंग से खोलता कि उसका अन्धापन नंगा होकर सबके सामने नाच उठे। सितम यह कि उस समय वहाँ कोई न होता और इल्मुद्दीन के बोल हवा में बिखर कर रह जाते।

यहाँ क्रम तिल भर चलता। सोमचे वाले के पास ग्राहक कम आएँ या अधिक लेकिन इल्मुद्दीन के पेट की आग को ईंधन मिल ही जाता। इसके अतिरिक्त और किसी स्थान पर उसे खाते-पीते किसी ने नहीं देखा।

इल्मुद्दीन के विषय में मुझे इतनी उत्सुकता और दिलचस्पी क्यों पैदा हुई, यह तो नहीं कह सकता। एक ही वस्तु को बार-बार देखने से मन इतना अभ्यस्त हो जाता है कि उसकी ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता अनुभव नहीं होती। वह नित्य के जीवन का अंग सा बन जाता है। इसकी प्रतिक्रिया यों भी होती है कि भीतर ही भीतर उस वस्तु से लगावट बढ़ जाती है। दिन में बार-बार उस राहदे से निकलने के कारण इल्मुद्दीन का वहाँ खड़ा होना एक ऐसा तथ्य था जो मेरे जीवन का अंग बन गया, इसकी प्रतिक्रिया यह भी हुई कि मैं

उसके व्यक्तित्व के प्रति कुछ आकर्षण सा अनुभव करने लगा। मैंने कभी उससे बात तक नहीं की, तो भी मुझे ऐसा लगता कि यदि किसी दिन इल्मुद्दीन यहाँ दिखाई न दे तो शायद मेरे लिए यह एक बहुत बड़ी घटना हो, एक बहुत बड़ा हादसा और इस बात का खटका दिल में बना रहता था।

यह भाव यहीं तक रहता तो कोई बड़ी बात न थी, परन्तु अब मेरे मन में यह जानने का कौतूहल जाग्रत हो रहा था कि इल्मुद्दीन सन्ध्या को कहाँ जाता है, कहाँ सोता है, क्या करता है? निदान एक दिन सन्ध्या के समय अपने काम से जल्दी फुरसत पाकर मैं उसी जगह चहल कदमी करने लगा जहाँ इल्मुद्दीन खड़ा था।

अंधेरा कुछ बढ़ चला, खोमचे वाला अपना सौदा पत्ता संभाल कर चल दिया तो इल्मुद्दीन ने भी अपना रुख बदला और अपनी डंगोरी को धरती पर टेकता हुआ चल पड़ा। जब वह पाँच-सात गज़ आगे निकल गया तो मैं भी उसके पीछे छेपीछे हो लिया। दिल में यही खयाल था कि वह आँख से ओझल न हो जाए, पर कदम धीरे धीरे रखता था, लेकिन बाज़ार की सड़क पर पहुँच कर अन्धा इतना तेज़ चलने लगा जैसे उसकी टांगों में विद्युत शक्ति आ गई हो। उसका पीछा करना दूभर जान पड़ा। अधिक निकट जाने से भी डरता था कि मेरी पग चाप सुन कर अन्धा यह न जान जाए कि उसका पीछा किया जा रहा है। अंधेरा घना हो गया, लेकिन बाज़ार के दोनों ओर की बिजली की बत्तियों ने क्षण भर में प्रकाश ही प्रकाश बखेर दिया। इतने में इल्मुद्दीन एक नुक्कड़ पर पहुँच कर मुड़ा और एक तंग बाज़ार की तरफ हो लिया। मेरे आश्चर्य की सीमा न थी, अन्धा इधर क्या करने जा रहा है। यह तो वह बाज़ार है जहाँ और किसी वस्तु का नहीं जिस्मों का व्यापार होता है। अन्धा रंडियों के बाज़ार में, क्या यह भी वासना का शिकार है? मांगकर जो कमाता है उससे अपनी वासना की अग्नि को शान्त करता है, है तो वह भी इन्सान, दिन भर हवस पूरे

खाकर शरीर में काफी गर्मी पैदा हो जाती है, फिर वह करे तो क्या करे, मैं इसी उधेड़ बुन में उसके पीछे चला जा रहा था कि एकाएक अपने को रंडियों के बाजार में पाकर कुछ घबराहट सी महसूस हुई, लेकिन अब तो बीच बाज़ार में था, लौट कर जाऊँ भी तो कहाँ?

इतने में अल्ला इलमुद्दीन एक कोठे के ज़ीने की बगल में खड़ा हो गया, लाठी टेक कर, और अपने ख़ास अन्दाज़ में आवाज़ लगाने लगा।

"बाबा मुझे भी दिला जा
मुझ अन्धे फकीर को"

लेकिन वह आवाज़ उसी समय लगाता जब कोई बिलायती युवक या बिगड़ा छोकरा किसी सुन्दरी के कोठे पर चढ़ता या कोठे से उतरता। उस समय इलमुद्दीन की आवाज़ का अन्दाज़ ठीक वैसा ही होता जैसे खोमचे वाला उसके सामने बैठा हो, खोमचे वाले में और यहाँ के सौदा बेचने वालों में फर्क सिर्फ यह ही था कि वहाँ बेचने वाले की आवाज़ उभरती थी, सौदा और ग्राहक चुप रहते थे, यहाँ सौदा और ग्राहक बोलते थे, बेचने वाले खामोश थे, इशारों से बातें करते थे।

"दे जा दिलाजा
मौज करजा, मौज कराजा"

उसकी इस सदा पर ध्यान देने का किसी को अवकाश न था। अपनी-अपनी धुन में मस्त, इस निराले संसार के वासी अपनी-अपनी राह चले जाते थे। कोई कोई मनचला उसके कान के पास मुँह में जाकर कहता: "क्यों मियाँ, मौज की हविस बाकी है, लूँ पैसे, चढ़ जा किसी कोठे पर तू भी।" इतनी बात सुनते ही इलमुद्दीन के मुँह से जैसे लार टपक पड़ती और वह इस तरह अधीर हो जाता जैसे अभी किसी सुन्दरी के पार्श्व में जा बैठेगा। कहने वाला उसके दिल में एक अजीब सी हलचल मचाकर चल देता। इलमुद्दीन क्षण भर प्रतीक्षा करता और

फिर मन मार के रह जाता और अपने विशेष ढंग से बोलता : "अन्धे हैं, देखते नहीं मैं अन्धा हूँ" और अपनी आँखों के पपोटे उँगलियों से खोलने लगता। वह क्या जानता था कि यहाँ हर आने वाला अन्धा है। न भी हो तो इस कूचे में कदम रखते ही अन्धा हो जाता है। वासना की भूख उसे अन्धा किए होती है। हाँ, लौटते समय अवश्य उसकी आँखें कुछ खुलती हैं लेकिन उस समय उसमें न बात सुनने की हिम्मत होती है न पल्ले से देने के लिए कुछ पैसे ही।

घंटा भर खड़ा रहने पर भी शायद ही किसी ने उसके हाथ पर दो पैसे रक्खे हों, फिर भी इल्मुद्दीन वहाँ से हटने का नाम न लेता था। मेरी माथूनी और परेशानी बढ़ती जा रही थी, क्यों मैंने यह सिर दर्द मोल लिया, बैठे-बिठाए मुझे क्या पड़ी थी जो यहाँ आकर इस अंधे को अंधेर नगरी में खड़ा देखता। यों कुछ शर्म सी भी आ रही थी, कोई देखे तो क्या कहे और मैं इल्मुद्दीन को कोसता हुआ चलने ही वाला था कि एक ओर से आवाज़ आई :

"बाबू।" मैं हैरान था किसे बुलाया जा रहा है, इधर-उधर देखा भी, पर कुछ समझ न सका। इतने में फिर किसी ने कहा :

"बाबू, इधर आओ, इस तरफ, देखो ना मैं बुला रही हूँ।" गज़ब हो गया। पास ही की कोठरी से एक सुन्दरी मुझे ही बुला रही थी, हाथ से इशारे भी किए जा रही थी। मेरे पैर जैसे मन मन के हो गए। क्या करूँ जाऊँ या न जाऊँ इसी द्विविधा में था कि उसने फिर कहा :

"क्या सोचते हो, आ भी जाओ न।"

अब तो जाना ही पड़ा। मैं काँपते कदमों से दहलीज़ पार कर के उसके कमरे में पहुँचा, सर्दियों में भी पसीने से भीगता हुआ, उसने कुर्सी आगे बढ़ाई, और मैं बैठ गया।

"डरो मत बाबू, मैं तुम्हें ग्राहक नहीं समझती, न गाहक समझ

फर ही तुम्हें बुलाया है, हम लोग तो चाल-ढाल से ही इन्सान को भाँप लेती हैं, दिन-रात हैवानों से ही काम पड़ता है, इसलिए जो इनमें इन्सान होगा है वह हमारी नजर से छिपा नहीं रहता।"

मैंने आँख उठा कर उसकी ओर देखा, जैसे पूछना चाहता था, फिर बुलाया ही क्यों? वह कहने लगी—

"तुम यह जानना चाहते हो, ऐसी बात है तो मैंने तुम्हें बुलाया क्यों? हाँ बुलाया है, कुछ अपनी गरज़ से नहीं, तुम्हारी गरज़ से ही तुम्हें बुलाने की हिम्मत की है।"

"मेरी गरज़" मैं हैरान था।

"हाँ, तुम्हारी गरज़, भला तुम इधर आए ही क्यों? क्या मैं समझी नहीं, सब समझती हूँ, जो सुनो। मैं घंटा भर से देख रही हूँ कि तुम इस अन्धे भिखारी को देख रहे हो, तुम्हें इसके बारे में बेहद दिलचस्पी पैदा हो गई, शायद इसीलिए तुम यहां चले आए हो और इसे इस तरह घूर-घूर कर देख रहे हो। है न यही बात। चलो इसी बहाने तुमने यहां की दुनिया भी देख ली, पर इसे देखना नहीं कहते। बाबू, हमारी दुनिया को देखने के लिए पत्थर का कलेजा चाहिए, तुम तो इस अन्धे को देख कर ही मिट गए, तुम्हीं पर क्या, मैं खुद इस अन्धे की बेचारगी पर मर मिटी हूँ। यों मुझे इसमें कोई लगाव नहीं, मुझे इस पर तरस आता है। जब मैं यह देखती हूँ कि पेट की भूख से जितनी भूख इसे वहीं ज़्यादा तंग करती है। इसको मरा सुनते हो इसमें इसकी ख्वाहिश का राज़ छिपा है, यह इस वक्त पैसा या रुपया नहीं चाहता, किसी ऐसे दाता की फिक्र में है जो इसे किसी कोठे पर पहुँचा दे। क्यों शरमा गए, है न बेहद परेशानी की बात। लेकिन बाबू, इसका क्या कसूर, भूख तो हर किसी को सताती है, इसमें बेशरमी की असल बात तो यह है कि रुपये पैसे के लालच में हर किसी के हाथ अपना तन बदन बेचने में इसें शरम महसूस नहीं होती। अपना शरीर देकर लोगों की जेबें खाली करा लेती हैं लेकिन इस

फ़क़ीर के लिए यहां किसी के पास कुछ नहीं। न दया न तरस। किया भी क्या जाए। किसी को क्या पड़ी है जो इसके बारे में सोचे। यों हर किसी के लिए सोचने लगें तो भूखों ही मर जाएं, पैसा कमाने में जितनी सस्ती हम बिकती हैं शायद दुनिया की कोई जिन्स नहीं बिकती, तो भी जाने क्यों मुझे तुम्हारे हलमुद्दीन से बेहद हमदर्दी हो गई है। यह नहीं जानती मैं कौन हूँ, कहां से आई हूँ। हां, इतना जरूर करती हूं कि जिस दिन इसकी मायूसी बेहद बढ़ जाती है और इसकी जिन्सी भूख पागलपन की हालत को पहुँच जाती है तो मैं इसे अपने पास बुला लेती हूं इससे प्यार करती हूं। मुझे इससे मुहब्बत नहीं लेकिन उस वक्त उसे यह महसूस नहीं होने देती कि मेरी मुहब्बत में हमदर्दी या बख़्शिश का कोई ज़ज़्बा है। मैं जानती हूँ यह अन्धा बड़ा खुद्दार है, इसका दिल टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा इसीलिए इससे अपनी कीमत भी वसूल कर लेती हूँ, लेकिन बाबू, मुझे इतनी खुद्दारफ़ क्याल न करना कि मैं इस अन्धे को भी लूट लेती हूं। मैं तुम्हारे वकीलों या डाक्टरों की तरह नहीं हूं जो गरीब और अपाहिज को भी नहीं बख्शते। वही मकदी जो मैं इससे वसूल करती हूं किसी न किसी दिन आते-जाते इसकी झोली में डाल देती हूं। क्यों बाबू, क्या मैं ठीक नहीं करती? इससे ज़्यादा मैं इसकी और क्या मदद कर सकती हूं। क्या तुम इसे मेरा दान न समझोगे? इस पुण्य से क्या मेरे पापों का प्रायश्चित्त न हो सकेगा? सेवा और दान का और कोई तरीका मैं सोच ही नहीं सकती! तुम बोलते क्यों नहीं?

मैं क्या बोलता। मैं सोच रहा था: यह बाजारू औरत है, रंडी है, शरीर बेचती है, इस गलाज़त और गन्दगी में रहती है, पाप की कमाई खाती है, इसने वर्षों इसी तरह व्यतीत कर दिए, फिर भी इसमें औरत ज़िन्दा है, सांस ले रही है और पुण्य कमाने की इच्छा जीवित है। पुण्य का इससे अच्छा ढंग यह सोच ही नहीं सकती और एक है यह हलमुद्दीन अन्धा, इसका खाता है और उससे जो गन्दी

पैदा होती है उसे शान्त करने का साधन ढूंढता है और एक तीसरा मैं हूँ जो वास्तविकता को खोजने निकला और उसके प्रत्यक्ष-रूप को देख कर उलझ गया हूं, चकरा गया हूँ। यही सोचता-सोचता न जाने कब अपने घर आ गया। उसके बाद मैंने उस रास्ते से निकलना छोड़ दिया जहां इल्मुद्दीन खड़ा-खड़ा भीख मांगा करता था। हां, कभी-कभी उस रंडी को देखने की इच्छा अवश्य मन में आती है, एक नज़र भर कर उसे देखने की, पर ऐसे ख्याल के साथ ही इल्मुद्दीन भी मस्तिष्क पर आ चिपकता है, इसी डर के मारे उसका ख्याल भी छोड़ देता हूं, विवश जो हूं।

सत्यदेव शर्मा

सन्ती को अवकाश तो घर के काम-धन्धों से ही कुदकारा न मिलता था, मरने तक की फुर्सत नहीं, किसी न किसी काम में बेचारी उलझी रहती और जब कभी उसे थोड़ा सा भी समय मिलता तो वह उस थोड़े से समय में अपने बारे में सोचने लगती—

वह सोचती मैं जिन्दा हूँ या मुर्दा, मरी हुई जी रही हूँ या जी कर मर रही हूँ। उसकी जिन्दगी मौत से भी बुरी थी, फिर भी वह जिन्दगी थी। लोग उसे जीता-जागता ही समझते थे, क्योंकि वह चलती थी, फिरती थी, खाती-पीती और सोती भी थी, काम-धन्धा करती और हंसती-बोलती भी थी। यह सब कुछ तो एक जिन्दा आदमी ही कर सकता है, फिर भी वह अपने में मरी हुई थी, अपने को जिन्दा न समझती थी, क्योंकि जब उसे जरा भी सकल सोचने का मिलता तो वह अपनी मरी हुई जिन्दगी में जी उठती थी और जीती-जागती जिन्दगी की ओर से मर जाती थी। पर ऐसे क्षण उसे कम ही मिल पाते थे, तो भी वह एक ही जिन्दगी में दो तरह का जीवन देखती थी। कैसा अद्भुत था उसका यह जीना। वह एक थी, या दो, एक शरीर में दो जीवन थे या दो जिन्दगियों में एक ही जीवन प्रवाहमान था, वह समझ न सकती थी कि ऐसा क्यों अनुभव करती है, परन्तु उसे यह ये बड़े प्रिय थे। तभी न वह एकान्त खोजा करती थी। पर एकान्त जाने उससे क्यों दूर भागता था, शायद इसी-

लिए कि वह उसमें जिन्दा ही जाती थी ! वरना आठों पहर, दिन, रात, काम, काम, काम; वरा अकेली रहती तो भी घर का, परिवार का कोई न कोई व्यक्ति उस पर निगाह जरूर रखता जैसे भय हो कि कहीं वह लोप न हो जाए। बाहर जाती तो किसी न किसी बहाने कोई न कोई उसके साथ हो लेता, इसलिए वह अनुभव करती उसका जीवन अपना नहीं है, भाड़े का है, किराए का है, जिस पर उसकी अपनी मिल्कियत नहीं।

हाँ, जब वह नहाती या कपड़े धोती तब उसे ऐसा लगता जैसे उसे छुट्टी मिल गई हो और वह अपनी दुनिया में पहुँच जाती। वह चाहने पर भी सुबह सवेरे स्नान न करती थी, एक तो सबसे पहले जाग कर घर का सारा काम करना होता था, फिर उस समय नहाने में जल्दी करनी पड़ती थी, जल्दी का मतलब यह कि उसे अपने जीवन के जाग्रत क्षण खोने पड़ते, इसलिए जब बापू नहा-धोकर अपना पाठ शुरू कर देते, बाबू जी खापीकर काम पर चले जाते, बच्चे स्कूल पहुँच जाते, गाय, भैंस, बकरी को पाली चराने ले जाता, बीबी जी खा पी कर अपने कमरे में दोपहर की मीठी मीठी झपकियाँ लेने लगतीं और खाना पचाने के लिए जैसे गाएँ जुगाली करती हैं, पान चबाने लगतीं, तब वह नहाने के लिए गुसलखाने में चली जाती, ढेरों कपड़े धोने के लिए साथ ले जाती, कपड़े धोते-धोते कभी साबुन हाथ में धरा रह जाता और वह दीवार की ओर आंखें गड़ाये ताकती ही रहती, जैसे उस दीवार में ही उसकी जिन्दगी बस गई हो। उसने एक बार बीबी जी के साथ सिनेमा जाकर देखा था, कैसे तस्वीरें पर्दे पर नाचती, बोलती थीं पर्दे पर एक दुनिया ही बसी हुई थी, अपनी दुनिया जैसी ही एक और दुनिया, सब झूठ-मूठ फिर भी सच ही प्रतीत होता है, बस इसी तरह उसकी आँखें सफेद दीवार पर अपने नए और पुराने जीवन के चित्र आंक लेती थीं और उन्हें ही देखते-देखते वह गुम हो जाती थी, दीवार की तस्वीरें भी बनावटी थीं

सिनेमा के पर्दे की वो सब सब और सब कुछ फिर भी जीवन के वर्तमान को भूल कर वह इनमें ही खो जाती थी।

अब वह सन्ती है, सन्ता नहीं बसन्ती है, बसन्त कुमारी या बसन्ती देवी, पर घर के लोग प्यार से या फिर बोलने की आसानी के लिए अथवा उपेक्षा से सन्ती ही कहते थे, इसी नाम से वह पुकारी जाती और यही अपने को समझती भी थी परन्तु नहाने के समय या रसोईघर में आते ही वह सन्ती का चोला उतार कर आयशा बन जाती थी, जो वास्तव में वह थी।

इस घर में जब वह आई तो अठारह वर्ष की थी, क्यों आई थी, कैसे आई थी उसे कुछ भी मालूम न था, वह तो इतना ही जानती है कि वह सन्ती है और उसे सब तरह का काम करना पड़ता है, इस घर की चार दीवारी ही उसकी दुनिया है, यहीं रह कर उसे सब सहना है, पिंजरे का पंछी उड़े भी तो कैसे और जाए भी तो कहां, मर कर ही छुटकारा सम्भव है, अब तो कोई पिंजरा भी खोल दे तो क्या लाभ? पर कट चुके हैं उड़ने की हिम्मत और बल भी नहीं, उड़ना भूल भी तो गया है···ऐसी ही थी सन्ती।

सन्ती की इस दुनिया में एक बूढ़ा बापू है जो दिन चढ़े तक पाठ करता है, फिर खा पीकर सो जाता है, शाम को घूम फिर कर आता है तो उसे अपने कमरे में बुला लेता है, सन्ती आलमारी में से उसकी बोतल निकाल देती है, शीशे के गिलास में एक बड़ी तेज गन्ध की दवाई सी डाल देती है, उसमें सोडे की बोतल भी मिला देती है, बापू घूंट घूंट पीता रहता है और सन्ती की ओर भरी-भरी गहरी नज़रों से देखता रहता है, कभी हंसते-हंसते चुप हो जाता है और कभी चुप रह कर आंखों में मुस्कराता रहता है। कभी कभी कह उठता है: "सन्ती, इस दवाई के नशे से तेरा नशा कम नहीं, यह खुली हुई और तू बन्द बोतल है, बन्द बोतल का नशा खुली बोतल से कई गुना अधिक होता है, इसे पी कर उतना नशा नहीं चढ़ता

जितना सरूर, जितनी खुशी बन्द बोतल के हाथ में आने से मिलती है, पर तू कहां थी, २०, २५ वर्ष पहले तू कहां था" बापू बोलते बोलते गुंट हो जाता है और सन्ती घर के दूसरे कामों में लग जाती है।

सन्ती पहले-पहल बापू की यह अनर्गल बातें सुन कर हैरान होती थी, कभी-कभी बूढ़े को बुड़भस समझती परन्तु अब वह सब समझती है, खुशी और बन्द बोतल का अर्थ भी जान गई है और तेज गन्ध की दवाई का नाम भी उसे मालूम होगया है, अब उसे यह भी मालूम है कि वह बन्द बोतल नहीं और बापू जो कहता था २०, २५ वर्ष पहले तू कहां थी, इसका कारण भी वह समझ गई है, और बापू अब उसे दवा की बोतल पकड़ाने के लिए कम ही बुलाता है, क्योंकि उसे बापू को बजाए उसके पुत्र बाबू जी की ड्यूटी बजानी पड़ती है। सन्ती की इस दुनिया में एक दूसरा है बाबू जी, बापू का पुत्र। बापू की २०, २५ वर्ष पहले मिलने की साध को बाबू जी ने पूरा कर दिया है, अपने और बापू दोनों के हिस्से की साध को, और सन्ती अब भी वैसी ही है, उदास और मजबूर, जैसे यह सब कुछ उसके साथ नहीं किसी दूसरे के साथ हुआ हो, हो रहा हो। और इस बन्द बोतल के खोले जाने का श्रेय बीबी जी को है। वह सन्तान-हीन थीं, बड़े घर की बेटी, कुरूपता की कमी धन-दहेज ने पूरी करदी थी, सन्तान की कमी कैसे पूरी हो? बाबू जी नई शादी की चिन्ता में थे, सन्ती आगई, बीबी जी पहले तो घबराई परन्तु उन्होंने एक तीर से दो शिकार मार लिए, सन्तान पैदा की सन्ती ने दुःख, कष्ट, ग्लानि सब सहे उसी ने और गोद हरी-भरी बीबी जी की हुई।

इस सिलसिले में सन्ती को एक ही लाभ हुआ वह दो चार महीने मसूरी रह आई थी, इसी बहाने जंगल और पर्वत देख आई थी, परन्तु इसके बदले में उसे दुःख और वेदना भी कम नहीं सहनी पड़ी थी। दुनिया में यही मशहूर हो गया बीबी जी के भाग खुल गए,

१२ वर्ष बाद भगवान् ने सुन ही ली, क्या सुन्दर बच्चा हुआ है, जिसका बच्चा था वह तो उसे देख भी न सकती, छूना तो भला दूर की बात है, वह चांद सा सुन्दर बच्चा उसका है, पर वह उसकी मां नहीं, सन्ती के हृदय से गहरे सांस नहीं बल्कि जैसे सागर से बुखारात उठते थे, उन्हें वह अन्दर ही अन्दर दबाती पर वे घटा बन कर आंखों में छा जाते और बरस पड़ते।

बच्चा होने से पूर्व और दो तीन मास पश्चात् मसूरी में सन्ती की खूब सेवा-शुश्रुषा की गई, शरीर से तो वह भली-चंगी लगती थी पर मन उसका वैसा ही मरा हुआ था जैसे वह मरा हुआ रहता था। मसूरी से घर आने पर वह फिर वही पुरानी सन्ती थी, जो बाबू के पाठ करके सो जाने, बाबू के दफ्तर चले जाने और बीबी जी के ऊंघ-ऊंघ कर पान चबाने के समय गुसलखाने में नहाने आती थी। ढेरों कपड़े साथ में ले आती थीं, आते ही सन्ती का चोला बदल कर वह आयशा बन जाती थी, जो वास्तव में वह थी, और उसके यही क्षण उसके जीवन के अपने क्षण थे। वह देखती थी :—एक छोटा सा गांव, उसमें एक छोटा सा कच्चा घर, गांव के सभी घर एक से कच्चे पर साफ़-सुथरे, खुले-खुले आंगन, छोटी-छोटी कोठरियां, मिली हुई छतें, कुल पचास साठ घर, सभी किसान, धरती मां ही उनको पालती है, अन्न-अनाज और ढोर ही उनका धन है, घरों से ज़रा दूर लहलहाते हरे भरे खेत, उन खेतों में ही जैसे उनकी रूह बसी है, यह खेत ही उनके फलते-फूलते अरमान हैं। एक नन्हीं सी गोरी चिट्टी लड़की खेलती फिरती. मां बुलाती, आइशा, अब्बा के लिए रोटी और छाछ न ले जाएगी, आइशा भागी भागी जाती, उसे खेत पर अब्बा के लिए रोटी ले जाने का बड़ा चाव था। छोटी सी लड़की रोटियों का छाबा सिर पर रखे हाथ में लस्सी का छोटा लटकाए, जिसे उसकी मां रस्सी से इस तरह बांध देती कि वह हाथ में लटका कर ले जाए, छोटे-छोटे तेज़ कदम रखती चली जाती थी। अब्बा दूर से खड़े उसको

राह देखते, वह किसी खेत की बालियों के पीछे छिपकर अब्बा को छकाती, अब्बा देख कर भी परली तरफ मुंह कर लेते, अन्दर ही अन्दर हंसते पर चेहरे पर बनावटी गुस्सा लाकर आवाज़ें देते आइशा, ओ आइशा, कहां रह गई, दोपहर होने को आई आज कब तक भूखों रहना पड़ेगा, और वह दुबक कर अब्बा के पीछे खड़ी हो जाती और ज़ोर से खिलखिला कर हँस देती, अब्बा झट घूम कर देखते, हैरान हो जाते और फिर हंसी का फ़व्वारा छोड़ देते···

और आइशा कहती : "क्यों कैसा छकाया अब्बा, मैं तो तुम्हारे पीछे ही खड़ी थी कब की।" तब बाप बेटी मिल कर रोटी खाते, बाजरे की रोटी, कभी मक्के की, कभी गेहूँ चने की मिली नमकीन रोटियां, रूखी-सूखी पर अमृत सी मीठी और स्वाद, साथ-साथ छाछ तो ऐसा मज़ा देती कि बस उसके सामने छत्तीसों भोग किस काम के, तब अब्बा सुस्ताने लगते, वह बकरियों के साथ खेलती, थक कर अब्बा के पास जा बैठती। अब्बा की आँख लग जाती तो वह धीरे से एक तिनका उठाकर उनके नाक में छुआ देती, अब्बा पहले तो नींद में इधर-उधर सिर मारते, वह फिर तिनका नाक में नहीं कान में हिला देती, अब्बा घबराके उठ बैठते, वह हंसती हंसती दूर भाग जाती।

सन्ती भी हंस देती, पर आंखों के आंसू दृश्य को धुंधला कर देते, तब वह कपड़े को पटक-पटक कर धोने लगती, या पिंडे पर दो एक लोटा पानी डाल देती, फिर ठहर जाती, आंखें दीवार में गड़ा देती और दृश्य बदल जाता।

"आइशा सयानी हो चली अब वह अम्मी के साथ काम में हाथ बंटाती, कभी दही बिलोती, कभी साथ-साथ आटा पिसवाती, हत्थे के घुमाव के साथ-साथ चक्की ही घुमर-घुमर न चलती बल्कि मां-बेटी के कंठ से गीत भी गुंजरित हो उठते, चक्की तो जैसे बाजा

बन जाती, सुर और लय को कायम रखती और गाते गाते मां-बेटी कितना आटा पीस डालतीं और ज़रा भी थकान न होती।

तब चक्की के परोले में से अम्मी आटा निकालती, आटा एक पतनाली में से होकर नीचे परात में गिरता आबशार की तरह तो आइशा हंस देती, मां भी मुस्करा उठती, तब तक आइशा की सहेलियां आ जातीं, सोहनी, बेदां, नानको, रज्जी और सब मिलकर हंसती खेलतीं बाहर आतीं, गांव के साथ लगे जोहड़ में नहातीं, एक दूसरे पर पानी के छींटे डालतीं, जोहड़ के खड़े पानी में उनकी तरल सी हंसी तरंगों सी नाच उठती, पानी खड़ा रहता, हंसी बहती चली जाती, पास ही पीपल के पेड़ तले वे हाथ में हाथ पकड़े किकली खेलतीं :

किकली कलीर दी
पग मेरे वीर दी
दुण्डा मेरी भाई दा
सिर सुन्नड़ा भैंडे माई दा···

सहेलियों को मिलकर वे चर्खे काततीं और गातीं। वे गीत आज भी सन्ती को याद हैं, पर वह उन्हें गाए भी तो कैसे, एकाध कड़ी जोड़ कर गाने का यत्न भी करती तो चीची जी झाड़ देतीं। :—

"सन्ती, बाबू जी के आने का समय हुआ जा रहा है, कपड़ों को सुखाने के लिए डाल कर चूल्हे में आग जला दे, आते ही वे चाय मांगेंगे।" और सन्ती कपड़ों को ही नहीं अपने जीवन के फैलाए चित्रों को ही अपने में समेट जल्दी जल्दी बाहर आ जाती। उसके जीवन के वह चित्र वह उसी तरह समेट कर अपने भीतर बन्द कर लेती, जैसे पंख फैलाए नाच में मग्न मोर बिल्ली को देख कर अपने पाँव समेट लेता है, तब फिर सन्ती घर के धन्धों में उलझ जाती है, गई रात तक काम करती रहती है और जब थक कर चारपाई पर पड़ जाती है तब थीरज दिलासे के दो शब्द भी कोई नहीं कहता, जो उसकी थकान को दूर कर दे, मंजिल मार कर आया हुआ घोड़ा मालिक की

प्यार भरी पुचकार और पीठ पर स्नेह की थपकी पाकर परिश्रम के दुःख को भूल जाता है, सन्ती को इतने की भी आशा नहीं, तब वह फिर गुसलखाने की दीवार पर के चित्रों को दुबारा देख कर उनसे जी बहलाने की कोशिश करती है, पर उस समय वे भी उसे बहलाने नहीं आते, पर नींद जरूर अपनी गोद में लिटा लेती है, माँ सी मीठी नींद जो उसकी थकान हर लेती है, उसका सब दुःख दूर कर देती है; मीठी गहरी नींद जिसमें दुःख-सुख के सपने नहीं, जिसमें दो ज़िन्दगियों की चुभन नहीं, मौत का भय नहीं, ज़िन्दगी की पीड़ा नहीं।

अगले दिन सवेरे ही जग कर वह काम-धाम में लगी हुई भी उस समय की बड़ी बेचैनी से प्रतीक्षा करती है जब वह कपड़े धोने जाएगी, जब वह सन्ती नहीं रहेगी, सन्ती में आइशा जाग उठेगी, तभी न जल्दी २ वह काम समेटती चली जाती है। लो बापू पाठ करने लगे, बाबू जी काम पर गए, बच्चे स्कूल, ढोर चरने, बीबी जी ऊंघ ऊंघ कर पान चबाती हुई मानों जुगाली सी करने लगीं, या जुगाली सी करती हुई ऊंघने और सन्ती ने ढेर सारे कपड़े उठाए और धोने लगी, हाथ का साबुन हाथ में रह गया और आँखें दीवार में कुछ तलाश करने लगीं :—

"आइशा के पांव आज धरती पर नहीं पड़ते, उसके भाई की शादी है, बारात चढ़ चुकी है और वह लाल चुन्नी ओढ़े, नया काला परांदा लटकाए, प्याजी छींट का सूट पहने इधर-उधर भाग रही है, इतने में रज्जी आ जाती है।

"आइशा, मुबारक, पर तू तो खुद दुलहिन भी सज रही है"

"मैं भी तो दुलहिन बनूंगी," कहते कहते आइशा लजा गई, बात को जैसे पी गई, पर रज्जी तो यह ही काइयां है।

"आइशा, मैं लड़का होती तो तुझी से शादी करती!"

"क्यों भला ?" और उसने आइशा के सामने आइना रख दिया, छोटा सा आइना जो उसने आधा सेर गेहूं देकर खरीदा था।

आइशा आइना देख कर एक बार तो ठिठक गई, यह रूप, उसने आंखें बन्द कर लीं, जब आंखें खोलीं तो नई भाभी आ गई थी, गुड़िया सी बड़ी सुन्दर और हंसमुख, भाभी उसे बड़ा प्यार करती थी, आइशा, मैं तुझे अपनी भाभी बना लूंगी, तू तो मेरे भाई के ही लायक है।

और तब देखते ही देखते जाने क्या हो गया, गांव के गांव बर्बाद हो गए, जाने कैसी आफत मच रही थी, अपने ढोर-पशु, अपने घर-मकान, गांव, खेत-खलिहान सब छोड़ कर लोग भाग भाग रहे थे, आइशा भी भागी थी, उसके अब्बा-अम्मी का कुछ पता न था, भाई भावज, आइशा और उसकी नन्ही सी बहिन फज्जी, अंधेरी रात में भागे चले जा रहे थे, न जाने कहां, न जाने क्यों, चारों ओर भय खतरा और अब तो भय और खतरा भी इस भयानक तूफान से डर रहा था। जिधर वे जाते उधर ही आग, आइशा ने एक बार नानी से सुना था, एक कहानी सुनाई थी उसने, हनुमान ने लंका में आग लगा दी थी, राक्षस बिचारे उसी में घिर-घिर कर जलने लगे, शायद वैसा ही कुछ यहां हो रहा था, भागते-भागते ठोकरें खाते आइशा के पांव छिल गए थे, फिर भी भाई कहता था भागो, भाभी कहती थी आइशा फज्जी को कंधे पर उठा कर भागो, फज्जी जोर जोर से रोने लगी तो आइशा उसे उठा कर दो चार दो चार कदम ही भाग सकी कि लड़खड़ा कर गिर गई और बेहोश धरती की गोद में पड़ी रही, आंखें खुली तो भाई की लाश पड़ी दिखाई दी, भाभी वहां न थी, आस-पास खून ही खून, उसने चीख मारी और वह फिर बेहोश हो गई।

सन्ती की आंखें दीवार पर खून का सैलाब देख रही थीं और उसी खून में आइशा बेसुध पड़ी थी, सन्ती को भी होश न रहा,

गुसलखाने की दीवार के साथ उसका सिर लगा और वह लुढ़क गई, अब आइशा और सन्ती एक हो गई थीं। दो न रहीं। और अब यह घर था, जिसमें बापू था बाबू जी थे, और बीबी जी थीं, बूढ़ा बापू जो उसे बन्द बोतल समझ कर तरस जाता था, वह सन्ती का बापू था, बाबू जी का बापू, आइशा को सन्ती के रूप में जन्म देने वाला बापू, पर आइशा का अब्बा नहीं, अब्बा ही नहीं आइशा उसी रात मर गई जब उसका भाई उसे छोड़ गया था। और अब थी वह सन्ती। हां उसने इस नई सन्ती में आइशा को समो लिया था और इस बोझ को अपने अन्दर ही अन्दर उठाए लिए फिरती रही और अब तक लिए फिरती है। जब एकान्त पाती है तो गर्भस्थ बच्चे से जैसे मां बातें करती है वैसे ही उससे प्यार भी करती है और बातें भी।

बीबी जी का बच्चा जब उसके गर्भ में था तब भी वह उससे नहीं आइशा से ही बातें किया करती थी, क्योंकि वह तो बाबू जी का बच्चा था, बीबी जी के लिए, पर आइशा के लिए सन्ती होने का दण्ड था। आइशा को वह अब भी उठाए लिए फिरती है, भीतर की आइशा से जितनी प्रसन्न है ऊपर की सन्ती से उतनी ही उदास, क्योंकि वह उसकी अपनी नहीं किसी की बनावट है, एक लिबास जो जिस्म के चमड़े के साथ ही सी दिया गया है, उधेड़ने के साथ चमड़ी भी उधड़ जाएगी, ऐसा ही कस कर सी दिया गया है, और गुसलखाने के चित्रों की आइशा उसकी अपनी बनावट है, इसीलिए प्रिय है, सन्ती तो किसी दूसरे का दिया रूप है, रूपम्मा। कभी-कभी वह सोचती है काश कभी आइशा जी उठे, वैसे ही जैसे यह सन्ती जी उठी है, क्या कभी सन्ती मर कर आइशा जी उठेगी? फिर वैसा ही तूफान आएगा, फिर बापू भागेगा, बीबी जी और बाबू जी भागेंगे, मैं बिल्लू को उठा कर भागूंगी, जैसे एक बार फज्जी को उठा कर भागी थी, बिल्लू को उठा कर भागने में बड़ा मजा आएगा, बीबी जी तो थलथल हैं, भाग न सकेंगी, कहेंगी, बिल्लू को उठा ले सन्ती,

और भाग, तब तो मैं बिल्लू को छाती से चिपटाए भागूंगी, और वह जैसे खुशी से भाग रही हो, लेकिन तूफ़ान, वैसी ही आग और वह काँप उठी।

'न, न' वह सम्ती बनी रह कर ही मिट जाएगी, आइशा न बन सके तो न सही, उसकी आइशा उसी में सोती रहे पर वह आइशा बनने के लिए किसी तूफान की कल्पना नहीं कर सकती, नहीं कर सकती, सम्ती कांप उठी और धोए कपड़े ही नहीं दीवार के चित्रों को भी समेटने लगी। उसने एक सर्द आह भरी और उसका सिर दीवार से जा लगा।

एक लड़की और सारा दफ़्तर

यह तो मैं नहीं कहता कि अमर कलाकार गोर्की की कहानी "२६ मर्द और एक लड़की" मैंने नहीं पढ़ी, हाँ इतनी बात ज़रूर है कि जिस घटना का उल्लेख यहाँ मैं करना चाहता हूं वह घटी उस समय भी जब कि मैंने यह प्रसिद्ध कहानी नहीं पढ़ी थी, लेकिन उसे कलम की नोक से कागज़ पर उतारने की स्पर्द्धा उस कहानी पढ़ने का परिणाम है। मज़बूरी है, मन की मज़बूरी, वर्षों तक इस घटना ने दिल और दिमाग़ को परेशान किया है इसे दिल से निकल जाने दीजिए, मेरी परेशानी में आप भी थोड़ा हिस्सा बटाइये।

हाँ तो आज की नहीं कुछ वर्ष पूर्व की बात है। दस वर्ष से कम तो क्या गुज़रे होंगे कि एक बार वह हमारे दफ़्तर में आई थी, फिर तो कई बार आई और बार-बार उसे आना ही पड़ता था—पर आपने मुझे रोक दिया वह कौन? यह तो बताओ! ऐसी भी क्या जल्दी है। वह कौन है? नाम और पता-पता तो शायद मैं भी नहीं जानता हूं। कम से कम इस क्षण के लिए तो भूल ही जाना चाहता हूँ, ताकि आपको बता न सकूं। यह न पूछिए कि वह कौन थी, तो मैं खुशी से बता दूंगा, वह क्या थी, आपका काम बखूबी चल जाएगा।

मेरे कहने से शायद आपको विश्वास न हो, और लिखने वाले अपनी कहानी की नायिका को अवसर अनुपम सुन्दरी बना कर उसके नख-शिख, उसका रूप-वर्णन करने में उपमाएं ढूंढ कर लाते हैं, उसे इतना आकर्षक बनाने का यत्न करते हैं कि पढ़ने वाले उसी में खोकर रह जाएं, इसीलिए कहना चाहता हूँ, मेरी बात का

विश्वास कीजिए। मुझे किसी प्रकार का यत्न करने की आवश्यकता नहीं। दूसरों को नहीं कहता मेरे देखने में रंग-रूप, रूप और जोबन, जोबन और जवानी का ऐसा सुधा स्नेह सा मिश्रण कहीं नहीं आया। दस वर्ष पहिले की बात ही जाने दीजिए दस वर्ष बीतने के बाद भी उसे देखा तो देखता ही रह गया, रूप और जोबन ने जैसे वहाँ पक्का ठिकाना ही बना लिया हो। थोड़ा भी नहीं सरके, सरकने का नाम ही नहीं लेते।

हमारा दफ़्तर साधारण दफ़्तरों जैसा नहीं था। वह दफ़्तर भी था और कला-केन्द्र भी। जहाँ क्लर्क, मुंशी, बाबू, चपरासी, सुपरिटेण्डेण्ट भी थे, दफ़्तरी थे, चौकीदार थे, तो कलाविद्, कला मर्मज्ञ, कला पारखी, कलाजीवी सभी तरह के कलावन्त थे और धनी घर की बेटी और धनी घर की बहू यह तो मैं नहीं कह सकता अभी वह बहू बनी थी कि नहीं, यह तो उसे देख कर आप अब भी नहीं कह सकते, क्योंकि उसे देखकर तो कालेज में पढ़ रही किसी कुमारिका का ही ध्यान आता है, हाँ तो धनी घर की बेटी और धनी घर की बहू को कला की परख, कला के रसास्वादन का प्रचुर समय मिल जाता है, हमारे देश में कम युवतियों को ही ऐसे अवसर नसीब होते हैं, इसलिए वह हमारे दफ्तर में आया करतीथी। कभी कुछ परामर्श देने, कभी कोई रचना देने, किसी रचना की फीस वसूल करने, ऐसे बहुत से कामों के लिए वह आया करती थी और आते ही बिना किसी से पूछताछ किए सीधी बड़े बाबू के कमरे में पहुँच जाती थी।

देखने में उसका रूप तीखा कम और भोला ज्यादा है, लेकिन उस भोलेपन को बना लेने की कला उसे खूब आती थी और वह बनावट भी ऐसी थी कि बनावट न दीख कर असल का ही गुमान होता था। यहीं उसकी कला सफल थी। अपने रूप को अच्छी तरह पहचानती थी उससे काम लेना भी जानती थी। वह अपने रूप की नहीं बल्कि रूप जैसे उसका गुलाम था, बहुत बड़ी बात होते हुए भी यहीं पर

उसकी कला में विकृति थी, पर इतनी बात को भी कितने परख सकते हैं। सो वह अपने आपको खूब समझती थी, इसलिए आते ही बन-ठनती हुई बड़े बाबू के कमरे में पहुंच जाती।

बड़े बाबू, सचमुच बड़े बाबू थे। मिलनसार, शरीफ़, अपने काम से काम वह कब आती और कब जाती, इसका उन्हें ज्यादा ज्ञान न था, न उन्हें इसकी जरूरत थी लेकिन बड़े बाबू के नीचे काम करने वाले उनसे छोटे और फिर उन छोटों से छोटे और और भी छोटे, कम खोटे न थे, और खुटाई का यह परिमाण ज्यों-ज्यों नीचे जाता त्यों-त्यों बढ़ता ही जाता था, वे जाने कैसे सूंघ कर बता सकते थे कि वह आ गई है। बाज-बाज तो ऐसे भी थे जो उसके घर से चलने के समय ही नहीं बल्कि जब उसके मन में घर से चलने का विचार होता था तभी जान लेते थे कि वह आ रही है, आएगी, उनका अनुमान भी ग़लत न निकलता था। काश कलकी के स्थान पर यदि वे ज्योतिष का व्यवसाय करते तो बाज़ार में दूसरे को कोई न पूछता, सबका मन्दा पड़ जाता, भगवान् बड़े दयालु हैं।

बड़े बाबू के दफ्तर में जब वह जाकर बैठ जाती तो दफ़्तर के कमरे-कमरे में उसके आने की बात फैल जाती, तब चपरासी से लेकर सुपरिन्टेन्डेण्ट तक को बड़े बाबू से कोई न कोई काम निकल जाता। कोई छुट्टी माँगने के बहाने, को ई कागज पर दस्तखत कराने के लिए, कोई टाइप किए हुए कागज़ को रखने के बहाने, कोई किसी काम के बहाने, बड़े बाबू के कमरे में आ ही जाता और उनमें ऐसे भी लोग थे जो बड़े बाबू से जलते थे और उसकी शकल तक से नफरत करते थे। भलेमानुसों से नफरत करना भी आज के युग का धर्म है, वे भी कोई न कोई ढंग बना कर वहाँ आ जाते। कागज़ रखते थे बड़े बाबू के सामने लेकिन नजर होती थी रूप की ज्वाला की ओर और रूप की ज्वाला ऐसी ज्वाला जो दूर से जलाती है पर पास जाने से उल्टा असर करती है। उसे नजर भर देखते और

तड़पते हुए चले आते, कई तो परवानों की तरह झुलस भी जाते, जो दर्जे में कुछ बड़े थे वे तो किसी बहाने उससे बात भी कर लेते और गुलाबी पत्तियों की मीठी सी सरसराहट का आनन्द भी ले लेते, जिनके भाग्य में यह नहीं था वे अभागे उसे देख कर ही मानो अक्षय आनन्द लाभ कर लेते और आनन्द की उस पूंजी को तब तक बटोर-बटोर कर खाते जब तक वह दुबारा न आ जाती। बड़े बाबू बेचारे वास्तव में भोले थे। इस सारे नाटक को जो उनके इर्द-गिर्द अभिनीत किया जाता था वे भाँप भी न सकते थे। जाने उनकी वह तीक्ष्ण आँख जो काम की साधारण सी गलती को भी पकड़ लेती थी, इस घटना की गन्ध तक न पा सकती थी। लेकिन वह सब कुछ जानती थी, सब समझती थी। कौन क्यों आया है उसे मालूम था। किसकी आँखें कितनी लोलुप हैं, उसकी आँखें पढ़ लेती थी। किसको कितना जलाना और तड़पाना है इसका सूक्ष्म भेद भी उसे अवगत था। अपने रूप और अंगों का प्रदर्शन भी वह उसी ढंग और मात्रा से करती थी। रूप होना ही सब कुछ नहीं उसे संभालना और उसका उचित प्रयोग यही तो रूप की कसौटी है। कहने वाले तभी तो कह गए हैं आँख में सुरमा तो सभी डालते हैं पर असल बात तो मटकाना है जो हर कोई नहीं जानता। उसे दोनों बातें आती थीं। सुरमा डालना भी और उसे मटकाना भी जो हर कोई नहीं जानता। चपरासी जाकर सलाम करता तो वह ज़रा सा सिर हिलाती, क्लार्क देखता तो उसकी ओर ज़रा गहराई से देखती, सुपरिंटेंडेंट बात करना चाहता तो थोड़ा मुस्करा देती, उससे बड़ा अफसर बात करता तो अपनी सुडौल और मक्खन-सी मुलायम दूधिया बाहों पर से काली रेशमी साड़ी को हटा लेती, काले ब्लाउज़ में से साड़ी को हटा कर निकलती हुई बांह म्यान से निकली चमचमाती तलवार से कम काट न करती थी, परन्तु कमल फूल की पंखुरियों सी उँगलियाँ फिरतीं तो बाँह तलवार न होकर कमल नाल बन जातीं। देखने वाला दोनों तरह से मारा जाता है। तलवार की चकाचौंध और

कमल की सुगन्ध भरी सुन्दरता पर आंखें भौंरों की तरह टूट पड़ना चाहतीं, वह अपनी सीमाओं को पहचानती थी और अपने स्थान से आगे बढ़ना, खड़े रहना या पीछे हटना, आपकी हिम्मत की बात नहीं उसकी इच्छा की बात थी। वह जानती थी कितनी देर और किस प्रकार देखने से कौन व्यक्ति कितना मोम हो जाता है। पत्थर को पिघलाकर पानी बना सकती थी तो पानी को जमा कर पत्थर बना देना भी उसे आता था। उसके लिए तो यह खिलवाड़ थी लेकिन इससे दूसरों की जान पर बन जाती थी। दूसरों का तड़पना और तड़पते देख कर उसे ऐसा आनन्द आता था जैसे बिल्ली चूहे से खिलवाड़ करती रहे; यह उसके हाथ की बात है कि उसे जब चाहे छोड़ दे, जब चाहे हजम कर जाए। यह तो हुई बिल्ली की बात, लेकिन बेचारे चूहे पर उतनी देर क्या गुजरती है यह तो वही बतला सकता है। वास्तविक भय से भय की भावना अधिक दुखदाई होती है। लेकिन लोगों को ऐसे दुःख में रखना उसे आता था और ऐसी ही खिलवाड़ सी करके वह चली जाती थी अपने उसी अन्दाज़ से जैसे कुछ हुआ ही न हो। अन्तर के तूफान की गर्द तक भी उसे छू न पाई हो। जाने इस तरह के नपे तुले कदम रखना हर काम में पूरा हिसाब-किताब उसने कैसे सीखा था या यह भी रूप की तरह उसे भाग्य का देन थी। एक बात जरूर है, उसके चरित्र के बारे में उसके दुश्मन सन्देह न कर सके थे इस पर सबको नाज था या सम्भव है उसके वास्तविक जीवन की किसी को कुछ खबर न थी।

हां तो वह चली जाती थी और अपने पीछे एक अच्छा खासा आँधी-बवंडर छोड़ जाती थी, आँधी आती है तो सब कुछ बहा ले जाती है पर वह रूप की आँधी अपने पीछे सब झंझट झमेलों छोड़ जाती थी, बाबुओं का काम में जी न लगता, चिट्ठियों गलत टाइप होने लगतीं, चपरासी से पानी मंगाओ तो वह स्याही की बोतल उठा लाता, सुपरिन्टेण्डेण्ट से बात करो तो काटने को दौड़ता, जिन्हें कोई काम नहीं थे

अंगड़ाइयाँ तोड़ते, जम्हाइयाँ लेते और दबी-दबी आहें बरबस निकल जातीं, यह सिसकना वहीं खत्म हो जाता तो भी खैर थी, बाबू घर पहुंचते तो उन्हें बीवी अच्छी नहीं लगती, खाना स्वाद न लगता, थालियां पटकी जातीं, बच्चे पिटते, जिनके बीवी-बच्चे न थे वे सड़क पर घूम कर न तो तो किसी से गो ही रार मोल लेते और जो कुछ समझदार थे वे सिनेमा देखने चले जाते और कुछ बैठ कर उसके दोबारा आने की बाट जोहते और उससे बात करने का अवसर पैदा करने की सोचते।

एक दिन दफ्तर पहुँचा तो क्या देखता हूँ बड़ा हंगामा सा मचा है। पूछने पर मालूम हुआ कि भले बाबू बदल गए हैं और उनके स्थान पर नए बाबू आ रहे हैं, मि० शईब। यह शईब मेरे पुराने मित्र और सहपाठी थे, पहले भी यहां काम कर गए थे। दफ्तरों में तब्दीलियाँ भी होती ही रहती हैं। बड़े बाबू के जाने का रंज भी था लेकिन ये तो और भी बड़े होकर जा रहे थे और शईब भी जाना पहचाना अफसर और दोस्त का दोस्त है। भावुक प्राणी फिर यह धमाचौकड़ी कैसी? इसका कारण भी वही थी। शईब में कई गुण थे पर उसकी कमजोरियाँ भी थी, सब में होती हैं। पर उसकी कमजोरियों को प्रायः सभी जानते थे। वह बेतहाशा सिग्रेट पिया करता था। जिसे कहते हैं चेन स्मोकर, वही वह था. शराब भी पीता था, यह तो बड़े आदमियों के गुण हैं। बेतहाशा खर्च किया करता था। सितम्बर की तनख्वाह जून में ही खर्च हो जाया करती थी, औरत, उसके बारे में यह प्रसिद्ध था कि सड़क पर चलती हुई जिस औरत पर उसकी दृष्टि पड़ जाए वह उसके पंजे में अपने आप चली आती थी, है तो अतिशयोक्ति, लेकिन रामायण में एक ऐसे राक्षस का उल्लेख भी आया है जो समुद्र में छिपा रहता था और जिस जीव की छाया उस पर पड़ जाए उसे झपट लेता था और मार डालता था। हनुमान् ही ऐसे वीर सिद्ध हुए थे जिन पर उसका प्रभाव न पड़ा बल्कि हनुमान् जी ने ही उसे समाप्त

भी किया। अब हंगामे की बात यह थी कि आया शईब के लिए वह हनुमान् सिद्ध होती है या उसके जाल में फंस कर प्राण दे देती है। यही समस्या सबके सामने थी और सबको कदपा रही थी। बाबुओं का बहुमत इस पक्ष में था कि शईब कितना ही बड़ा खिलाड़ी क्यों न हो उस पर उसका एक दाव भी कारगर न होगा। कुछ ऐसा चाहते भी थे। कइयों को शईब की कामयाबी में सन्देह न था लेकिन चाहते वे भी थे कि शईब को शिकस्त मिले वह मात खा जाए।

शईब ने कुरसी संभाल ली। उसने दो एक दिन में ही सबके मन को मोह लिया। ऐसा मिठबोला, सभाचतुर, सुन्दर, स्वस्थ, मनुष्य काम की कद्र करने वाला सभी उससे प्रसन्न थे। अब बाबू लोगों का शईब के प्रति उतना झुकाव न था जितना वह उस समय की प्रतीक्षा में लगे थे जब कि वह शईब के पास आएगी। एक दिन वह आई, लोगों के दौड़ दिल होने लगे, आँखें जैसे फट पड़ेंगी, प्राण उतावले हो आँखों में बैठ गए, पर हुआ कुछ भी नहीं। वह आई और चली गई, उतने लोग उसे देख नहीं पाए क्योंकि शईब पुराने बड़े बाबू की तरह न था। उसने दो एक को जो बिना मतलब उधर गए, झाड़ दिया। अपना सा मुँह लेकर रह गए। दूसरे किसी ने हिम्मत न की।

एक बात सब ने पढ़ ली शईब उसमें दिलचस्पी लेने लगा था। जिस दिन वह आने वाली होती उस दिन शईब के लिबास में विशेष तड़क-भड़क होती, वह अधिक प्रसन्न दिखाई देता। जिस काम के लिए वह आती उसे विशेषतया अपनी देख रेख में खुद ही करता, परन्तु वह कन्नी काट कर ही चलती। बाबू प्रसन्न होते। दिन पर दिन बीतते गए पर एक दिन अचानक ही कमरों में घुसपुस होने लगी। आँखों में बातें हो रही थीं। कनखियों से सूचना एक दूसरे तक पहुँच रही थी, आखिर बात क्या है। जानने की सबको उत्सुकता होने लगी। शईब के चपरासी से पता लगा कि वह आई है। और उसके कमरे में बैठी है। दरवाज़ा बन्द है और किसी को भी बड़े साहब के पास

जाने का हुक्म नहीं। यों तो शाईब को उसके क्या किसी के आने पर भी अपने कमरे में दफ्तरवालों का आना-जाना गवारा न था पर आज तो हद हो गई, घंटे भर से वह वहाँ है। जाने क्या हो। लोगबाग यों महसूस कर रहे थे जैसे उनकी अपनी इस्मत लुटी जा रही हो। यही देखना चाहते थे कब बाहर निकलती है। जल्दी से जल्दी क्यों बाहर नहीं आ जाती। अजी शाईब तो घाव है घाव, पांच मिनट में औरत पर काबू पा ले, यहाँ तो दो घंटे होने को आए पूरे १२० मिनट। अजी तुम यों ही फजीता कर रहे हो शाईब तो मैंने सुना उसके पांव धोते हैं। उसने ऐसीवैसी देखी होगी, ऐसा सच्ची औरत से पाला नहीं पड़ा।

जाने उसके रूप के कारण या क्यों बहुमत उसी की पक्ष में था। ऐसा दिखता था यदि उसकी गोट पिट गई तो वे छत पर से ही छलांग लगा देंगे। या गोट को ही चीर फाड़ कर फेंक देंगे। काम धन्धे की आज किसे परवाह थी। वे तो जैसे युधिष्ठिर की तरह जुए का दाव लगाए बैठे थे पर दुःख की बात यह थी कि पासा उनके हाथ में न था फिर भी हारजीत जैसे उनके सिर पर ही थी, एकएक क्षण कल्प सा बीत रहा था, इससे तो कोई यही आकर कह दे "तुम्हारी गोट पिट गई"। हजारों तो नहीं लेकिन लाखें शाईब के द्वार पर लगी थीं। फिर भी जाने द्वार क्यों नहीं टूटता था। आखिर पूरे १२० मिनट बाद द्वार खुला इससे पूर्व कि उसके रूप के किसी परिवर्तन को कोई पढ़ सकें वह अपने उसी ढंग से जैसे कि आई थी चली गई। उसकी सहज बनावट उसकी रक्षा कर गई या वह बेदाग अप्। आप बचा कर भाग गई यही उलझन सबके दिमाग पर चिमट गई। अब बात मन में न रह कर जबान पर आ गई। आपस में बहस शुरू हो गई। वह बच गई, नहीं बची, खूब गरमा गरम बहस, दलील पर दलील फैंकी जा रही थीं। जो इस पक्ष में थे कि वह पिट गई, चाहते वे भी थे कि ऐसा न हुआ हो। तो भी तर्क चल रहा था। उसमें जोश

का समावेश हुआ, नौबत हाथापाई तक आई पर जाने कैसे दोनों पक्ष मन में कुछ कटेकटे से थे। लड़ते तो कैसे, लड़ाई एक जनूनी कहकहे में बदल गई और सब अपनेअपने काम में जा लगे, पर मेरे मन को चैन नहीं। यहाँ तो अनेकों आत्माएं जल रहीं थीं, मैं भी जल रहा था शायद दिल और दिमाग़ को और भी ज्यादा कष्ट सहना पड़ता पर उस समय एक घटना घटी। मेरी तब्दीली का हुक्म आ गया और मुझे दो एक दिन में ही दिल्ली आ जाना पड़ा। मन की उत्सुकता को शान्त करने के लिए शईब से भी पूछ सकता था। वह मुझ से कोई बात न छिपाता था, लेकिन शहर छोड़ने से पहले घर का सब प्रबन्ध करके मुझे दिल्ली पहुंचना था इसलिए उस अफ़रातफ़री में सब घटना जाने दिमाग़ के किस कोने में जा छुपी थी कि दिल्ली पहुँचते ही फिर दिमाग़ को कुरेदने लगी। लड़ाई का ज़माना, कामकाज से ही फ़ुरसत कहां मिलती थी फिर भी दिल और दिमाग़ को ज़रा फ़ुरसत मिलती तो घूमफिर कर वही समस्या सामने आ खड़ी होती। क्या शईब बाज़ी मार ले गया, नहीं ऐसा नहीं हो सकता। भगवान् करे ऐसा न हुआ हो, वह बहुत फूंकफूंक कर कदम रखने वाली है। पर शईब भी पूरा घाघ है। उसके पंजे से बचना बड़ा कठिन है। ऐसा बार बार सोचता। कभी-कभी खीज उठता मुझेक्या लेनादेना है। जाने ऐसी कितनी घटनाएं रोज़ घटती हैं। मेरी बला से परन्तु इतना कह लेना आसान था। उस बात को दिमाग़ से निकाल फेंकना ऐसा ही असम्भव था जैसे नाखून से गोश्त का अलग होना। मुझे न शईब से लगाव था न उस सुन्दरी से, लेकिन दोनों के बारे में कुछ सोचना जैसे किसी अनहोनी बात के होने की उधेड़बुन में लगे रहने का एक नशा सा हो गया था। कभी महीनों यह बात याद न आती पर जब आ जाती तो इतनी शिद्दत से पीछे पड़ जाती कि उससे बचना मुश्किल नज़र आता था। ऐसे ही अचानक एक दिन उसे अपने दफ्तर में देखा तो देखता ही रह गया। जानपहचान तो थी ही आपस में बातचीत होने लगी।

बातों ही बातों में मैंने शईब का जिक्र कर दिया, जान बूझ कर उसका जिक्र कर दिया हो या यों ही अपने आप उसका नाम मेरे मुँह से निकल गया लेकिन शईब का नाम लेते ही मेरी आंखें ही नहीं कान नाक दिल दिमाग शरीर का एक एक अंग उसके जिस्म के हर हिस्से में से जैसे शईब को गन्ध पा जाना चाहता था, या फिर हर तरह से यह जान कर प्रसन्न होना चाहता था कि शईब की गन्ध और गर्द तक भी यहां नहीं पहुँची। उस एक क्षण में मेरे शरीर की शक्तियां एकाग्र हो कर एक अचिन्त्य व्यग्रता से उसे देखने लगीं। शईब का जिक्र आते ही वह एकदम चुप कर गई और उसने आंखें नीची कर लीं। बनावट वहां उसकी सहायता न कर सकी। मेरा मन फूट फूट कर रो उठा। वह यहां क्यों आई, वह बोली क्यों नहीं, आंखें क्यों नीची कर लीं, क्या अनहोनी होकर ही रही, परीक्षा में फेल होने वाला विद्यार्थी जिस तरह सोचता है कि परिणाम क्यों घोषित किया गया, इससे तो परिणाम की प्रतीक्षा ही अच्छी थी, ठीक वही दशा मेरी हो रही थी। इससे तो मन में चला रहा द्वन्द्व ही अच्छा था। मैं चाहता था कि वह यहां से हट जाए और मैं जी भर कर रो लूं, इतने में वह जा चुकी थी और मैं मन को झूठी तसल्लियां देकर समझा रहा था नहीं तुम ठीक नहीं समझे। काश उस समय कोई मुझे आकर यह विश्वास दिला जाता, तुम गलती पर हो, मैं उसका कितना एहसान मानता, लेकिन आज तक कोई न आया और मन को न तब चैन था न अब चैन है।

नुगदी के दाने

स्टेशन के बरामदे के बाहिर नीम की घनी छाया में अपनी छाबड़ी लिये लब्भू बैठा रहता। उसकी लकड़ी की बनी छाबड़ी में बीसियों खाने थे और उन बीसियों खानों में दुनिया भर की खाने की न्यामतें रखी रहतीं—दाल, चने, मुर्मुरे, मीठे, नमकीन, फीके, शीरनी, पकौड़े, मखाने, सिगरेट की डिब्बियाँ और जाने क्या-क्या कुछ लब्भू की यह छोटी सी दुकान सर्कन्डों के बने तिलौने पर टिकी रहती।

छोटे से गाँव का स्टेशन था। एक गाड़ी प्रातःकाल आती और एक संध्या को। इसलिए लब्भू को बाहिर के ग्राहकों की अधिक आशा न थी। वह मेरे बच्चों को बहुत प्यार करता था और वही उसके स्थायी ग्राहक भी थे। उनकी सिफारिश पर मैंने लब्भू को गाड़ी आने के वक्त के लिये स्टेशन के अन्दर जाकर अपना सौदा बेचने की आज्ञा दे रखी थी। उसके ख्याल में उस पर मेरी यह बहुत मेहरबानी थी। इसी बोझ से शायद मेरे सामने आता तो उसकी कमर झुकी-सी मालूम होती। गाड़ी में से कदाचित ही उसे कोई ग्राहक मिला हो, तो भी नियमित समय पर मैं उसे वहाँ देखता। इतनी पाबन्दी से शायद रेल भी कम आती हो। बूढ़ा लब्भू न तो ग्राहक के आने पर बहुत खुश होता और न मिलने पर उसके माथे पर बल ही पड़ते। बेचारा बेलाग सा रोज़ अपनी गद्दी से उठकर छाबड़ी कन्धे पर मार स्टेशन पर आकर सारी गाड़ी के सामने से दो बार चक्कर काट जाता और अपने खास अन्दाज में अपनी चीज़ों के नाम गाड़ी के डिब्बों को सुना

फर चला जाता—बच्चों के लिए मखाने लो, गर्म २ पकौड़े लो, शीरनी, बिस्कुट लो, लैम्प के सिगरेट पिओ।

लब्भू की ज़बान उसकी लम्बी २ सफ़ेद दाढ़ी की तरह नरम थी और उसकी आँखों से संतोष और धैर्य छलक पड़ता था। गाड़ी चली जाती तो वह फिर अपनी गद्दी पर नीम की छाया में आ बैठता और शाम तक वहीं बैठा रहता। उसकी छाबड़ी के थोड़ी दूर ठण्डे पानी का एक घड़ा और पास ही एक लोटा रखा रहता। इधर-उधर से आया थका-मांदा यात्री लब्भू के घड़े का ठण्डा पानी पीता और उसे जी-जान से दुआएँ देता चला जाता। उसकी दुआएँ लब्भू के पास से होकर गुज़र जातीं—बेचारे का न कोई आगे था न पीछे। ऐसा जान पड़ता कि वह सब के आशीर्वादों का बोझ अपने सिर पर रखता जाता और संध्या को जाते समय सिर हिलाकर दिन भर की थकान और आशीर्वादों का सारा बोझ वहीं बखेर देता। लब्भू को न तो आशीर्वाद हरा कर सकते थे न शाप सूखा। इसलिये वह उनसे परे था।

पानी के घड़े के पास दो-चार सरकण्डे और उपले जला कर वह आग बना रखता और यह आग उसके हुक्के के काम आती थी। लब्भू का हुक्का उसकी साँस की तरह लदा चलता ही रहता और अपनी मधुर ध्वनि से हर आने-जाने वाले के मन को आकर्षित करता जैसे उसकी मीठी २ बातें। दो-चार दस कोस का ऐसा कई ही आदमी होगा जो लब्भू के पास से गुज़रे पर उसके हुक्के के दो कश न ले। ऐसी खुशबूदार और टिकी हुई चिलम के दो घूंट भरने का मोह त्याग सके उससे बड़ा त्यागी उस समय मेरे विचार में या तो मैं था या पास के हस्पताल का डाक्टर। लब्भू तो चुपचाप सेवा करता था लेकिन उसका हुक्का गुड़गुड़ा कर अपने मालिक की यश गाथा पीने वाले के कान में कह देता।

इसी तरह छाबड़ी लगाते, पानी पिलाते और हुक्का सुलगाते

लब्भू ने बहुत से वर्ष पार कर दिये थे और ऐसा प्रतीत होता था कि उस स्थान पर नीम के नीचे सदियों से लब्भू चिमटा रहेगा तथा मरने के बाद भी वहाँ से नहीं टलेगा।

इस स्टेशन पर मेरा यह तीसरा साल जा रहा था। उस दिन दोपहर का समय था, गाड़ी जा चुकी थी और मैं बैठा स्टेशन का हिसाब चैक कर रहा था। स्टेशन पर चारों तरफ सन्नाटा सायं-सायं कर रहा था। और मेरा चपड़ासी ऊंघ-ऊँघ कर पंखे को कुछ इस तरफ खींच रहा था जैसे कोई वृद्ध बिस्तरे मरग पर पड़ा ज़िंदगी और मौत से खेल रहा हो। मुझे उस पंखे वाले पर हंसी भी आई और तरस भी—पंखा बार २ खड़ा होकर उसे नींद से जगा देता जैसे आधी रात का पहरेदार।

हिसाब में एक जगह कुछ ग़लती लग गई थी। मैं थककर पेन्सिल का पिछला भाग मुंह में डाल, हाथ का काम छोड़ खिड़की से बाहिर झाँकने लगा। अचानक मेरी नज़र लब्भू पर जा पड़ी—चुपचाप बैठा वह छाबड़ी को पंखा कर रहा था जैसे उसकी मिठाई को भी गरमी खूब सता रही हो।। इतने में देखा कि एक मुसाफिर धूप में तेज़ी से चला आ रहा है। लब्भू के पास आकर वह खड़ा हो गया और नीम की छाया में उसे कुछ शांति मिली। स्टेशन के फाटकों के बाहिर दोनों तरफ आस पास के गाँव को रास्ते फटते थे और बहुत से पैदल यात्री इधर से ही होकर जाते थे। लब्भू की मीठी बातों और ठण्डे पानी ने उस नए मुसाफिर पर जादू का सा असर किया। कुछ देर वहाँ बैठ लब्भू से बच्चों के लिए दो चार पैसे की चीज़ें ले उसने अपनी राह ली और लम्बे लम्बे डग भरता आँखों से ओझल हो गया।

लब्भू के हुक्के की आग ठंडी पड़ चली थी, उठकर चिलम भरने जा रहा था कि देखा, कुछ दूर एक बटुआ पड़ा है। सम्भवतः वही यात्री जल्दी में भूल गया था लब्भू ने आग उठाने वाले चिमटे से उठाकर बटुए को नीम की जड़ की खोल में ले जाकर रख दिया—जैसे वह

मरा साँप हो। उसे हाथ लगाना भी उचित नहीं समझा। मेरे दिल में लब्भू के लिए और भी आदर बढ़ गया। मैंने चाहा उठकर लब्भू को गले लगा लूँ। अभी इसी ख्याल में था कि दूर से वही आदमी दौड़ता-हाँपता पसीने में तर-बतर लब्भू की तरफ बढ़ा चला आ रहा था। आते ही बोला—'बाबा' मेरा बटुआ यहाँ रह गया, उसमें मामले की उगाही के पैसे थे कोई ६० रुपये के लगभग और कुछ रेजगारी भी। तहसील में जमा कराने थे! लेकिन मेरा दुर्भाग्य !! वह किसी गाँव का नम्बरदार था और अपने हल्के का मामला इकट्ठा करके लाया था।'

लब्भू ने कहा—चौधरी घबराओ नहीं, वह देखो नीम की खोड़ में बटुआ रखा है। तुम्हारा हो तो उठा लो नहीं तो वहीं रहने दो।

बटुए को देखकर नम्बरदार की बाछें खिल गईं। उसने लब्भू को लाखों दुआएँ दीं। कहने लगा—बाबा ! तुमने मेरी लाज रख ली। मैं तो कहीं का न रहता, राम तुम्हें बहुत सुख दे। उसने बटुआ खोला, उसमें से १० रुपये का एक नोट निकाल कर लब्भू की ओर बढ़ा दिया, बूढ़ा लब्भू उस सफेद नोट को देखकर यों घबराया जैसे वह मौत का परवाना हो, लाल-पीली आँखें कर कहने लगा—'चौधरी इस सफेद दाढ़ी पर खिजाब तक तो लगाया नहीं, फिर तुम यह कालिख लगाने का जतन क्यों कर रहे हो।' चौधरी ने यह बात सुनी तो दंग रह गया, दुबारा कुछ कहने की हिम्मत न हुई। लब्भू को सच्चे हृदय से धन्यवाद देते हुए उसने गाँव की तरफ प्रस्थान किया।

मुझे ऐसा मालूम हुआ लब्भू आदमी नहीं देवता है, देवता नहीं इससे भी कुछ ऊपर। सफेद दाढ़ी से भरा चेहरा यूं लगा जैसे चावलों से भरे थाल में चाँदी का लोटा। उसकी आँखों की दिव्य चमक ने जैसे मेरे अन्धेरे दिल में भी रोशनी भर दी। मुझे हिसाब की याद्दाश्त

चुक गई। डिनर खिलाकर सभा कर मैं लल्लू के पास चला गया और उसे भरी नज़र से देखता रहा। लल्लू देख रहा था, बड़ी देर तक चुपचाप क्या घूर रहे हैं? कहने लगा—आप जो कहना चाहते थे, कहिए। मैं बहुत कुछ कहना चाहता था, पर एक शब्द तक न कह सका और जल्दी से घबराहट की ओर चला गया। लल्लू मुझे अपने से बहुत ऊँचा दिखाई दिया। इतना लोभ क्या मैं संवरण कर सकता!!—

आज फिर वैसी ही दोपहर है। लुलसान और उदासी! जल्दी जो इन्सपेक्शन होने वाला है। मुझे अपना सब काम खत्म करना था, इसलिए दोपहर में भी जुटा हुआ था। गर्मी के मारे बुरा हाल था। आखिर धूप बहुत सख्त पड़ रही थी। आकाश जैसे आग बरसा रहा था। पंखे वाले को तत्परता से पंखा झिलाने के लिए कहता हुआ मैं अपना काम करता जा रहा था। पसीने की बूँदें फिर भी लिखे हुए काग़ज़ों पर टपककर उन्हें फैला देती थीं और मैं खीज उठता था। इतने में सहसा एक कुत्ता ज़ोर से भौंका, मेरी दृष्टि उचक कर उधर ही जा पड़ी। देखा, पास के हरगोपाल के बाग़ से साहिब का कुत्ता घर से भाग कर लल्लू के पास खड़ा दुम हिला रहा था। डाक्टर जी को कुत्ता बहुत प्यारा था। जहाँ जाते साथ रखते। उसके गले में पड़े पट्टे पर उन्होंने अपना नाम खुदवा रखा था। कुत्ता पट्टे में बंधी जंज़ीर के साथ ही भाग निकला था जैसे कैदी बेड़ी समेत। कुत्ते ने आज़ादी की खातिर बेड़ी भी साथ ले जानी चाही, लेकिन अपनी आज़ादी को लल्लू के चंद शीरनी के दानों पर बेच डाला। जलती हुई रेतीली ज़मीन को पार कर आज़ादी के नाम पर लल्लू की छाबड़ी के दो दाने ही उसे मिले। लल्लू ने इधर उधर ताक कर पट्टे से लोहे की जंज़ीर उतार ली। कुत्ता मीठे के मायाजाल में फंसा मोम हो गया था। लल्लू ने उसकी बेड़ी काट डाली, पर उसकी आज़ादी को न बचा सका। कुत्ते की जंज़ीर को उसने झट से छाबड़ी उठा तलौने में रख कर फिर छाबड़ी वहीं रखदी। कुत्ते की बेड़ी अपने गले में डाल ली। कुत्ता खाने में मग्न सब कुछ

भूल बैठा। जल्दी-जल्दी में चुकंदी के दाने खत्म करके वह भागने को ही था कि डाक्टर साहिब के नौकर उसे ढूंढते २ उधर ही आ निकले। मुझे शक था कि पीछे-पीछे रूठे रसिया को मनाने नंगे पाँव डाक्टर जी भी न आ रहे हों! लब्भू दिखाने को तो बड़े इतमीनान से बैठा था, मगर उसका दिल यूं कांप रहा था जैसे अन्धेरी रात में हवा के जोर से पीपल का सूखा पत्ता। ज़रा सा खटका हुआ, लब्भू चौंका। उसे चैन न थी। इतने में नौकरों ने पट्टे से कुत्ते को पकड़ लिया। कुत्ता अब समझा कि धोखा हुआ। वह उस बूढ़े की ओर देखकर बार २ भौंका पर भागता कैसे? इसी बूढ़े की मिठाई ने तो उसकी आज़ादी के सब मार्ग बन्द कर दिए। कुत्ता अभी नया-नया आया था, नौकरों ने पुचकार कर पट्टे से पकड़ लिया। उसके गले में जंजीर न देख कर दोनों बहुत हैरान हुए, रास्ते भर उन्होंने जंजीर कहीं न देखी। घर से कुत्ते के पट्टे में बंधी तो थी, वैसे ही वह भाग भी आया था। उन्होंने बड़ी भलमनसाहत से लब्भू से पूछा—बाबा! कुत्ते के पट्टे में लोहे की जंजीर बंधी थी, कहीं देखी हो! लब्भू इस पर बहुत बिगड़ा—'मैं आपके कुत्तों का रखवाला हूं, कि जंजीर का? कुत्ते को चुकंदी के दाने डाल कर रोके रखा, वरना ढूंढते ढूंढते.....

नौकर बेचारे लज्जित होकर जाने लगे, लेकिन डाक्टर की झिड़कियां सुनने के बजाय एक बार फिर लब्भू से पूछ लेना ही उचित समझ कर एक ने कहा—बाबा! इधर-उधर कहीं पड़ी देखी हो या किसी ने उठाई हो तो बता दो। लब्भू कुछ गर्मी से बोला—चौधरी एक बार कह जो दिया कि मुझे क्या पता तुम्हारी जंजीर कैसी थी, कैसी नहीं। इस तरह कुत्तों की जंजीरें देखने लगूं हो पागल न हो जाऊं? लाचार बेचारे वापिस लौट गए।

मुझे तो जैसे काठ मार गया हो। लब्भू में इतना परिवर्तन! ईमानदार और पवित्र लब्भू दो ढाई आने की जंजीर पर धर्म खो बैठा। जी में आया उसकी छाबड़ी उलट कर सारा भेद खोज लूं

लेकिन न उठ सका—न उठ सका। मुझे उसकी सफेद दाढ़ी सन के बालों से भी गई गुज़री जान पड़ी और उसका चेहरा जैसे हांडी का बना नज़र बट्टू नए मकान पर लटकाया गया हो।

गर्मी के उमस से बदन झुलस रहा था। दिल में टीस उठने लगी। आख़िर लब्भू को यह क्या सूझी, लब्भू इतना क्यों गिर गया! दिन भर वही बात दांत में गड़े रोटी के टुकड़े की तरह बार-बार चुभने लगी और ख्याल ज़बान की तरह घूम, फिर कर वहीं पहुंचने लगा। मैं बहुत देर तक वहीं बैठा रहा, यहां तक कि अन्धेरा हो चला। बाहर आकर देखा लब्भू घर जा चुका था। आज लब्भू कुछ जल्दी ही उठ गया। पाप अन्धेरे में छुप जाना चाहता था। मैं कुछ घबराया हुआ था, क्वाटरों की ओर न जाकर बाहिर खेतों में सैर करने निकल गया। बिल्कुल अकेला, अपनी ही उधेड़बुन में डोलताडोलता दूर जा निकला। एक खेत के सिरे पर कुछ वृक्षों ने मिल कर झुँड-सा बना लिया था। उसी में से होकर किसी के सिसकियाँ भरने की आवाज़ आई। मैं उधर ही हो लिया। किसी एक छोटे से चबूतरे पर दिया जलाए लब्भू बैठा था। चबूतरे के ठीक ऊपर वह ज़ंज़ीर रखी हुई थी, पास ही नुगदी के दो-चार दाने पड़े थे। लब्भू रो-रो कर कह रहा था—'बेटा जिंदगी भर तेरे लिए सुन्दर ज़ंज़ीर न जुटा सका, इतने पैसे जमा नहीं होते थे। लोहे का भाव चढ़ता गया। तेरे दिल में भी सुन्दर जंज़ीर का शौक था, जो कुछ तुम्हें जीते जी न दे सका। आज तुम्हारे मरने पर ला सका हूं। लेकिन बेटा इसके लिए मैंने अपना धर्म खोया, झूठ बोला, चोरी की। तो भी बेटा तुम्हारी चीज तुम्हें देता हूँ। तुम प्रसन्न होना कि तुम्हारे लिए तुम्हारे बाबा ने आख़िर चोरी की पर तुम्हारी साध पूरी की। इतना कह लब्भू और भी अधिक रोने लगा।

मैं बहुत देर वहाँ खड़ा न रह सका। वह लब्भू के प्यारे कुत्ते की कब्र थी। मेरे मस्तिष्क में लब्भू फिर आकर हलचल मचाने लगा।

लब्भू महान् है अथवा साधारण !! यही सोचता घर आया और रात भर लब्भू और उसके कुत्ते के सपने देखता रहा।

उस स्टेशन को छोड़े कई वर्ष हो गये। सख्त गर्मी के मौसम में कोई कुत्ता नजर आ जाय तो मुझे लब्भू की दाढ़ी भरी शक्ल याद आ जाती है और अपने मृत कुत्ते के लिए उसकी चोरी। दिमाग में एक सिहरन-सी एक लहर सी दौड़ जाती है और मैं बेखुद-सा हो जाता हूँ।

मोह की ज्वाला

१८ वर्ष के केशव और ३१ वर्ष की छाया में बड़ा प्रेम था। एक दूसरे के बिना वे जी नहीं सकते थे ऐसा उनका विचार था। हैरानी की बात यह कि प्रेम की आसक्ति केशव की ओर से अधिक थी। छाया दुनिया को जानती थी, वह सतर्क हो फूँक-फूँक कर चलना चाहती थी, लेकिन केशव अल्हड़ नाले की तरह पूरे वेग से शोर मचाता हुआ बहना चाहता था। अभी वह पहाड़ियों में था, समतल भूमि पर नहीं आया था। छाया की ममता और प्यार मन्द गति से चलते थे, वह नदी की तरह मैदान पार कर सागर की ओर जा बढ़ रही थी। केशव की जल्दबाज़ी और अल्हड़पन से वह किंचित् विचलित और क्रुद्ध भी हो जाती, इस तरह उन दोनों में मन-मुटाव हो जाता और लड़ाई-झगड़े तक नौबत आ जाती। आख़िर छाया उसे ऊँच-नीच दिखा कर समझा-बुझा कर ठीक राह पर ले आती। वास्तव में वह जानती थी कि यह आग उसी की लगाई हुई थी। भोले और नौजवान केशव में नारी के प्रति मोह की चिंगारी उसने ही फेंकी थी, और अब वह आग बन चुकी थी। और दोनों उसमें जल रहे थे। केशव की उम्र ही क्या थी वह अभी रूप यौवन का मूल्य जानने के क़ाबिल भी न हुआ था कि नारी उस पर छा गई और वह उसमें ही रूप और सुन्दरता का आदर्श देखने लगा। वह क्या जानता था कि वह बुझते हुए दिए की लौ की आख़िरी भड़क है। छाया अपने उजड़ रहे प्रौढ़ यौवन में ही अपने प्यासे मन की आग बुझाने का यत्न कर रही थी और चालाक भगतिन बिल्ली की तरह जो चूहे को पकड़ उससे खिलवाड़ करके उसे

मार देती है, गर्व से केशव को अपने फंदे में फँसा नचा-नचा कर उसका तमाशा देख रही थी। इसमें केवल कौतुक की भावना ही न थी, केशव के लिए उसके मन में सचमुच प्रेम भी था।

छाया का छोटी सी उम्र में ही विवाह हो गया था। उस वक्त वह माँ से पूछती, "माँ यह कानों में बालियाँ डाले हमारे घर में कौन मेहमान आया है।" माँ कह देती, "दुत पगली भाग यहाँ से!" बस फिर वही बालियों वाला सुन्दर-सा लड़का छाया को गाड़ी में बिठाकर ले गया। बचपन के बेपरवाह दिनों में छाया पति को न समझ सकी। उसकी इच्छाओं, अभिलाषाओं को न जान सकी। उसके पति "केवल कृष्ण" भी तब तक दाम्पत्य सम्बन्धी बातों को क्या जान पाये थे, वे सो कतिपय युवकों की तरह विलासिता के भूखे थे। धीरे-धीरे जब वे एक दूसरे को समझने और परखने की कोशिश करने लगे तो केवल-कृष्ण महामारी का शिकार हो गए और छाया दिन दिहाड़े लुट गई। यदि उसके पति चार वर्ष पहले मर गए होते तो छाया शायद देवी के प्रसाद चढ़ाती। लेकिन जब छाया समझी कि पति कितना बड़ा धन है तो भाग्य ने उसे चील की तरह झपट कर छीन लिया। छाया ने बहुत रो-धोकर संयम का सहारा लिया। घोर परिश्रम करके अपना, अपने बच्चे और बूढ़ी सास का पेट भरती। काम करते-करते, कपड़े सीते-सीते उसकी उँगलियाँ जवाब दे देतीं लेकिन उसकी मशीन बहुत रात गए तक अपनी अदृश्य आवाज से छोटे से कमरे को गुंजायमान करती चलती ही रहती। चार छः कमीज़, पाजामे तैयार करने पर भी छाया घर का खर्च पूरा न कर पाती थी, इसलिए प्रातः-सायं वह एक बड़े साहूकार के यहाँ खाना पकाने भी चली जाती थी।

कोई पर्व का दिन था, सर्दियों का मौसम। छाया लालाजी के घर खाना पका रही थी। उस दिन बड़ी लालाइन कहीं गई थीं और उनके छोटे देवर खाना खा रहे थे कि उन्होंने छाया को देखा। छाया का रूप सचमुच बड़ा छलिया था। छोटे देवर मुख से कुछ न कह कर इशारों

से बातें करने लगे। छाया समझ गई, चोरों ने माल को भाँप लिया है, अब यहाँ गुज़र न होगी। उसने जल्दी-जल्दी काम ख़त्म किया और घर की राह ली। रास्ते में लालाइन मिल गईं। उन्होंने छाया को उदास सा देखा। छाया ने हाथ जोड़ कहा, चाची जी, कल मैं नहीं आऊँगी। इससे पहले कि वे इसका कारण पूछतीं छाया जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाती आगे चल पड़ी। लालाइन दाँतों में उंगली दबाए हैरान थी, "इसका नख़रा तो देखो घर में भूंजी-भांग नहीं और रानी कल नहीं आएँगी।" छाया का एकमात्र लड़का केवलकृष्ण की निशानी, उसके साथ ही था, कहने लगा, माँ गन्ना ले दो। एकाध बार टालमटोल करके उसने मुरारी को दो गन्ने ले दिए। दो पैसे के गन्ने के लिए वह बच्चे को क्यों तरसाए। लेकिन उस वक़्त उन दो पैसों के लिए भी न जाने कितने रक्त बिन्दु उसे चुकाने पड़े हों। एक गन्ना छाया ने अपने हाथ में पकड़ लिया और दूसरा मुरारी को दिया और दोनों माँ बेटा एक तंग गली के मोड़ पर आए कि किसी ने पीछे से आकर छाया के कन्धे पर हाथ रख दिया। वह चौंक पड़ी और हाथ से खाने की थाली जो वह लालाजी के यहाँ से लाई थी उचक कर गिर गई। छाया ने हाथ के गन्ने को इस मज़बूती से उस नौजवान पर दे मारा कि उसकी चीख निकल गई। भाग रहे उस गुण्डे की पीठ की ओर से देखकर छाया पहचान गई, वह लालाइन का देवर ही था। मुरारी रोने लगा। उसे छाती से चिपटा छाया पर आगई और मकान के कोने में बैठकर आँखों के रास्ते सारा दुःख, क्षोभ और ग्लानि बहा देने लगी। बस उसी दिन से वह बेटे को साथ लेकर ससुराल छोड़ भागी और अपने भाई के पास दिन बिताने लगी। माँ, बाप मर चुके थे, अब भाई का आश्रय था। छाया के भाई बहुत बड़े धनी न होने पर भी सम्पन्न गृहस्थ थे। वे बहन को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने बड़ी बहन को आश्रय देने की बजाए घर का सब भार उसी पर सौंप कर एक तरह से उसी के आश्रय में रहना शुरू कर दिया। छाया ने भी पूरे संयम

नवम के साथ भोजन करके, भाई-भावज से मिल-मिल कर बहुत से वर्ष पार कर दिए। आज वहाँ, कल कहीं, फिर एक दिन आगया वैशाख। वैशाख एक बीता-बीता महीना, जिसके बीतेपन ने छाया के संयमित जीवन पर कटाक्षपात किया।

छाया के जीवन में वैशाख आँधी बवंडर की तरह आकर नहीं चला गया, बल्कि वह तो उदय हो रहे सूर्य की भाँति क्षितिज में आकर दोपहर की धूप की तरह प्रचण्ड होगया और संध्या की तरह अवसान भी।

छाया के भाई मास्टर थे और बड़े दयालु। केशव की हालत पतली थी, घर से दूर किसी एक सम्बन्धी के आश्रय में दिन गुज़ारता था। किसी एक दिन उस सम्बन्धी ने उसे आश्रयहीन कर दिया। पढ़ने-लिखने में तथा उस होनहार बालक को मास्टर जी ने आश्रय देना तुरन्त न समझा। और मास्टर जी की कृपा को सिर-आँखों पर धारण करके केशव उनके घर आया। यह मास्टर जी का घर नहीं जानता था, पूछता-पूछता वहाँ पहुँचा तो ड्योढ़ी में छाया बैठी कपड़े सी रही थी। बालक चुपचाप बाहर खड़ा रहा, बड़ी हिम्मत से पूछा, बीबी जी, मास्टर जी का घर यही है? उस मुहल्ले में मास्टरों के और भी घर थे, छाया बच्चे के भोलेपन पर हँसी, किस मास्टर जी का घर पूछते हो? नन्दलाल जी के? बालक ने कहा, 'जी उन्हीं का।' कहो क्या काम है; केशव इतना कोई सुन में था कि क्या काम कहे, इतने में बाहर से मास्टरजी भी आगए, आओ आओ केशव। अन्दर चले आओ। छाया ने कहने लगे, अच्छा यह केशव है मेरा शिष्य। अब यह हमारे ही पास रहेगा। बड़ा भला लड़का है, आज्ञाकारी। छाया और मास्टरजी की पत्नी को ऐसी बातें पसन्द नहीं थीं। ये कोई न कोई ऐसी आफ़त घर में ले ही आते थे। किसी को मुफ़्त पढ़ा रहे हैं तो कोई भोजन ही खा जाता है। किसी को कपड़ा लत्ता ही देने जा रहे हैं। छाया भी भाई की इस आदत पर कुढ़ी ज़रूर पर बच्चे को घर में अस्वीकार करने की हिम्मत उस न हुई।

अब केशव भी उनके घर का एक सदस्य बन गया। देखते-देखते वह दूध में जल की तरह उन सबसे हिल-मिल गया। ऐसा मालूम होने लगा कि वह बाहर का प्राणी नहीं, कभी था ही नहीं। घर का, बाहर का जो भी काम देखता उसे करता ही जाता। किसी के रोके न रुकता। मास्टर जी के उपकार का ऋण तो वह क्या चुका पाता, शरीर के भरसक श्रम से उसका भार कुछ हलका करने की चेष्टा वह ज़रूर कर रहा था। घर के सभी प्राणी उसे चाहते थे। मास्टर जी का तो उसे दायां हाथ ही समझिए। छोटे-छोटे बच्चे भी उसकी सहायता के बिना बस्ता बांधकर स्कूल नहीं जा सकते थे। गली-मोहल्ले वाले भी केशव को आदर ही लगाते। बाज़ार से सौदा सुलफ भँगवा लेते। दुःख बीमारी के समय वह दवाई ले आता। झगड़ते बच्चों को मना देता। इस प्रकार वह सब स्त्री, पुरुष और बच्चों में प्रिय हो गया। लेकिन इन सब में यदि वह किसी को अधिक मानता था तो छाया को। शायद वह समझ गया था कि घर में सुरक्षित रहने के लिए छाया की प्रसन्नता ही उपादेय है। वह उसका प्रत्येक काम करता। छाया के दुःख की कथा सुनकर एक दिन वह बहुत रोया। छाया भी उसे बहुत चाहने लगी। अपना घर सुख-दुःख उसे सुनाती। उसे केशव से अब कोई संकोच न रहा। वह उसे अपने बच्चे से भी अधिक प्यार करती। इस मोह को देख कर कभी-कभी छाया के भाई और भावज दिल्लगी करते, "छाया, ऐसा मालूम होता है केशव तुम्हारा सगा और मुरारी सौतेला लड़का है। छाया यह सब सुन कर झेंप सी जाती, प्रसन्न भी होती लेकिन छोटा मुरारी इससे चिढ़ जाता। वह कहता, "मैं केशव को मारूँगा।" केशव कहता, "न भैया लड़ना नहीं, मैं तुम्हारी माँ नहीं छीनता, वह मेरी नहीं तुम्हारी ही माँ है।" इस तरह बहुत दिन बीत गए। छाया केशव के निकटतर आती गई। केशव ने भी इस सबसे प्यार दुलार पाकर स्कूल का कोर्स समाप्त कर कालेज में प्रवेश किया और छाया के ज़ोर देने पर वह वहीं उसी तरह घर में

रहता रहा।

गर्मियों की छुट्टियों में कालेज बन्द हो गए तो केशव अपने गाँव चला गया। घर भर ने उसके वियोग को अनुभव किया। लेकिन छाया को तो मानो सब सूना दिखाई देने लगा। उसे अब मालूम हुआ कि वह केशव के प्रति कितनी आसक्त हो गई है। उसने लाख कोशिश की कि उसकी उदासी कोई न भांप सके लेकिन सब व्यर्थ। उसके भाई कभी-कभी हँसते-हँसते कहते, छाया पराए अपने नहीं बनते। इतना स्नेह दुःख का कारण ही बनता है। मुरारी भी माँ को छेड़ता, आख़िर मैं ही काम आऊँगा। वह केशव का बच्चा तुझे क्या चाहेगा। छाया ने गीता-भागवत सभी कुछ पढ़ा था। वह जानती थी कि आसक्ति में दुःख ही होता है फिर भी न जाने केशव के चले जाने पर उसकी गति विरहिणी गोपिकाओं जैसी क्यों हो रही थी? मुरारी को वह दिल से चाहती थी, वह उसकी भावी आशा, जीवन का आधार था, फिर भी केशव के प्रति उसका मोह बहुत बढ़ गया था। वह बेटे से कुछ ऊपर था। बेटे की जुदाई का दुःख बहुत अधिक होने पर भी बिच्छु दंशन जैसा तीव्र तो नहीं होता, तो क्या मेरा मोह कुत्सित, अनुचित है, नहीं कभी नहीं, ऐसा तो मैं स्वप्न में भी नहीं सोच सकती। इसी तरह के भाव-जाल में छाया का समय कटता गया। उसने केशव को पत्र भी लिखे। इतने में कालेज खुल गए और केशव एक दिन सन्ध्या के समय घर आ पहुँचा। सब ने उसका स्वागत किया। मास्टर जी प्रसन्न थे। उन्हें घर के कामों से छुट्टी मिली। बच्चे खुश थे, उनका बड़ भैया आगया। सुन्दर बस्ता बांध देगा, श्यामू को पगड़ी तो अब ऐसी बांधेगा कि स्कूल के लड़के देख कर रह जायेंगे। मुरारी खुश था उसके सवाल सब ठीक निकलेंगे लेकिन वह दुःखी भी हुआ, उसकी माँ के स्नेह में वह भागीदार बनेगा। लेकिन वह क्या जानता था कि माँ के एकान्त पुत्र स्नेह का वह भागी नहीं। वह तो सम्पूर्ण स्नेह का पात्र बन रहा है। अब की छाया ने सबके सामने उसे देखा ज़रूर पर खुल

कर उससे बोली नहीं। उसे एक नज़र भर सिर से पैर तक देखा। केशव अब जवान हो चला था। कालेज की हवा भी कुछ स्वतन्त्रता का वातावरण लिए होती है, फिर तीन महीने की छुट्टियाँ। केशव सचमुच लम्बा-तगड़ा हो गया था, कुछ खुला-खुला सा। छाया की ख़ामोशी से केशव कुछ घबरा सा गया। घर वाले भी थोड़ा हैरान हुए। पर छाया उससे बहुत बातें करने के लिए एकान्त चाहने लगी। वह चाहती थी रो-धो कर उसके गले लग जाए, विरह की सारी पीड़ा उसे दिखा दे, किस-किस तरह उसने केशव की याद में गर्मियों की लम्बी-लम्बी दोपहरियाँ काटी हैं। श्री कृष्ण के विरह में गाए गए गोपिकाओं के गीत गा-गा कर उसने सचमुच उसे याद किया है। लेकिन उसे वह यह सब क्यों बताएगी। और फिर वह सुनेगा तो क्या समझेगा। समझेगा भी कि नहीं। वह स्वयं नहीं समझ पाती थी कि वह किस ओर खिंची चली जा रही है। केशव के चले जाने पर वह क्यों इतनी उदास रही और उसके आ जाने पर क्यों इतनी चंचल और प्रसन्न? वह उसका कौन होता है? कोई भी नहीं। किसी का एक निराश्रित लड़का लेकिन जीवन के अणु-अणु में छा जाने वाले भोले केशव को इतना कह कर वह किस तरह प्राणों से बाहर उखाड़ कर फेंक सकती थी। वह मजबूर थी। क्या करती। काश, केशव उसकी पीड़ा को अनुभव करता। वह चाहती थी केशव कुछ भी न जाने, उसका प्रेम उसे ही गुलमता रहे। वह अपनी अग्नि में स्वयं जलती रहे। उसका प्रेम एकांगी हो। लेकिन चाहने पर भी वह अपने एकान्त प्रेम को अक्षुण्ण न रख सकी। आदान प्रतिदान का मोह कैसे टालती। वह साधारण नारी थी और यौवन की संयम शक्ति खो चुकी थी। जो सौन रह कर देगा जानता है वह पाने की इच्छा क्यों न करेगा।

अक्टूबर में सर्दी शुरू हो जाती है। छाया, मुरारी और श्यामू तीनों ऊपर सोते थे और पढ़ाई नीचे की बैठक में होती थी। केशव के सोने का प्रबन्ध भी ऊपर के चौबारे में ही था सब काम-काज

करके वह भी ऊपर गया तो मुरारी और श्यामू अपनी-अपनी चारपाई पर सो रहे थे। छाया जाग रही थी। केशव अपना बिस्तर बिछा देख हैरान था पर खुश भी हुआ। छाया को अब बातों का अवसर मिला। उसने केशव से बहुत बातें की जी भर कर। उसने बताया वह केशव को कितना प्यार करती है शायद उतना मां से भी अधिक। केशव की मां मातेजी थी। उसे मां के और अन्य स्त्री के प्रेम में भेद करना असान नहीं था। वह शुरू से ही प्यार का भूखा था। छाया के स्नेह बंधन की उपेक्षा करके उसने उसे और अपने को हताश करना उचित न समझा। वह छाया के आलिंगन पाश को पाकर मस्त सा हो उठा। वह उस क्यों हुआ चाहती है न जान सका। छाया ने उस रात उसे अपनी सारी दुःख कथा सुना कर द्रवीभूत कर लिया। छाया के वैधव्य की करुण कहानी ने उसके रहे सहे बंधन भी छिन्न भिन्न कर दिए। दुःखित और दलित छाया का करुण चित्र उसकी आंखों में रहता। यह देवी है, यदि अपना दुःख कहकर दुःख का बोझ हल्का कर लेती है तो इसमें मेरा क्या नुकसान। अब रात-रात भर बातें होतीं। प्याज के छिलके की तरह छाया की बातों से बातें निकलती और खत्म होने का नाम न लेतीं। बहुत सवेरे छाया जग जाती और केशव सो लेता। बहुत दिन इसी तरह बीत गए। अब छाया में और केशव में कुछ भी भेद बाकी न था। छाया को अब मार्ग मिल गया। बिना समझे सुने वह उसी रास्ते पर सरपट दौड़ने लगी। बातें करते करते वह कभी-कभी अपना हाथ केशव के कन्धे पर रख देता। इससे छाया का सुख मिलता। केशव अपने में कुछ सिहरन सी अनुभव करता। कुछ धड़कन सी और बस। छाया कभी रूठती रूठ जाती। कभी क्रोध करती, शायद उसका बचपन ही नहीं उसका यौवन भी लौट रहा था। अपनी आत्मा से वह छलना करता लेकिन मार्ग का आकर्षण वह कब छोड़ सकती थी। केशव उसे मना लेता। उसका कन्धा पकड़ उसका मुख अपनी ओर

फेरने की कोशिश करता। छाया अपनी विजय पर मुस्कराती। केशव पूछता, तुम मुझे इतना क्यों चाहती हो? छाया हंस कर कहती, तुम्हारी शक्ल ठीक मेरे उन जैसी है। उनसे भी आकर्षक। जभी तुम उन्हें देखते, ठीक तुम्हारे ही जैसे थे। वैसी ही तुम बातें भी करते हो। चाल ढाल ठीक वैसी। मैं कहती हूँ सब कुछ वैसा ही। उनका फोटो होता तो तुम मेरी बात को सच मानते। उनकी पगड़ी मेरे पास है। तुम तो टोपी पहनते हो नहीं तो वैसी ही पगड़ी भी होती और वे तो मेरे सीने में ही बसते हैं। मेरे सीने पर हाथ रख के देखो। और केशव ने झट छाया के सीने पर हाथ रख दिया और एकदम उठा लिया। उसे लगा जैसे सांप को छू लिया हो। छाया बोली कोई बात नहीं, घबरा क्यों गए। मेरे हृदय की एक-एक धड़कन में वे बसे हुए हैं। और अब तुम जो आ गए। ठीक वही। इतना कह कर पागलों की तरह केशव से चिपट गई। उसका दम घुटने लगा। एकदम पीछे हट कर बोली, "क्षमा करना केशव, मैं भावावेश में थी। मन में बुरा मत मानना।" रोज़-रोज़ की ऐसी ही बातों ने केशव के भीतर सो रही वासना को सजग कर दिया। सोए सिंह को कच्ची नींद में जगा कर छाया ने उसकी भयंकरता अब अनुभव की। केशव ने अब छाया के प्रेम का पूरे तौर पर जवाब देना शुरू कर दिया। उसका मन भी समस्त भावनाओं से अभिभूत हो छाया के पीछे पड़ गया। छाया उससे बचना चाहती थी। वह केशव से दूर-दूर भागती। प्रेम वह केशव से कम नहीं करती थी, केशव से प्रेम भी वह चाहती थी। लेकिन अल्हड़ केशव की वासना वृत्ति से वह सचमुच दूर भागना चाहती थी। उसे अनुभव हो रहा था कि अभी तक तो शुद्ध प्रेम और स्नेह का स्रोत ही केशव की आंखों से झर रहा है, कहीं उसकी पशु-वृत्ति जग गई तो अनर्थ कहीं दूर न था। वह रो उठी। कहीं वह भी जवाब होती। भोला केशव समझने लगा छाया का प्रेम मर गया है। पहले वह सौ-सौ हाथों से उसे अपनी ओर खींचती थी अब उदासीन क्यों होने लगी। क्या यह

औरतों की छल-कपट माया तो नहीं।

करते न करते केशव ने कालेज की परीक्षा भी समाप्त कर ली, लेकिन परीक्षा में बैठे हुए पेपर लिखने में व्यस्त भी वह छाया के विचारों को मन से न निकाल सका। उधर छाया माला लेकर अपने भगवान् से प्रार्थना करती : "प्रभु, मेरे दोष की उन्हें सज़ा न देना, न देना प्रभु।" छाया की मिन्नतों से छायापति कुछ पसीजे, पर प्रसन्न न हुए, केशव थर्ड क्लास में पास हुआ। अब उसके घर जाने का समय आया, सबने प्रसन्नता से विदा दी, पर छाया सामने नहीं आई, वह टल गई। केशव ने हज़ारों आंखों से उसे ढूंढा पर वह न दिखी। निराश होकर वह चल पड़ा तो छाया सबसे ऊंची छत पर धूप में खड़ी उसे देखती रही। उसके जाने से दो दिन पहले छाया ने केशव से विनीत भाव से कहा था : "केशव, मेरी एक बात नहीं टालोगे।" केशव ने कहा : "नहीं।" छाया ने कहा। "वचन दो।" केशव ने वचन दिया। वह सोच रहा था जाने छाया क्या कहेगी। छाया बोली : "देखो घर जाकर जल्दी शादी कर लेना, मैं तुम्हारे रिश्ते का प्रबन्ध कर रही हूँ। खर्च की परवाह न करना, मुझ से जो बन सकेगा करूंगी। भैया भी योग देंगे।" केशव ने हठ किया। अब वह छाया का नाम लेकर बुला लेता था। "छाया, अगर तुम इतने कष्ट से इस तरह जीवन चला सकती हो तो क्या मैं नहीं, मैं तो तुम्हारे लिए, तुम्हारे साथ रह कर जीवन उत्सर्ग कर सकता हूं।" "छिः मेरे लिए मैं इतनी स्वार्थान्ध हो जाऊं। तुम्हारा समूचा जीवन बुझते चिराग पर होम कर दूं। तुमने वचन दिया है केशव।" हां, केशव बोला, मैंने वचन दिया है। तुम्हारी प्रसन्नता के लिए यह भी करूंगा कलेजे पर पत्थर रख कर।

जाते हुए केशव से छाया ने उसकी टोपी लेकर रख ली और उसके जाने के बाद टोपी को गले से लगाए फूट-फूट कर रोती हुई अंधेरी कोठरी में जा कर उसने अपना ट्रंक उठाया, उसे खोला और

अपने स्वामी की पगड़ी अपनी गोद में रख ली और फूट-फूट कर रो पड़ी। पश्चात्ताप की अग्नि उसके हृदय में भड़कने लगी और आंखों से बह रहे आंसू जैसे उस अग्नि में घी का काम कर रहे थे। अश्रुजल अग्नि को बुझाने की बजाए भड़का रहा था। उसके मन में भावनाएँ सावन-भादों की घटाओं की तरह उमड़-उमड़ कर बरसने लगीं। गोद में रखी पगड़ी आंसुओं के जल से भीग रही थी जैसे छाया अपने स्वामी के अवशेष चिन्ह उस पगड़ी पर हृदय के मोती लुटा रही थी। वह पगड़ी की ओर लक्ष्य करके कहने लगी : "स्वामी, यह पुण्य हुआ कि पाप, एक बार कह दो, यह किसका अपराध है, मैंने धोखा दिया या ठगी गई, कुछ तो कह दो, मेरी इतने दिनों की तपस्या पर यह तुषारपात क्यों हुआ, क्या मैंने तुम्हें ही छला, मैं तो तुम से दूर नहीं जाना चाहती थी, फिर उसकी आंखों में तुम्हीं क्यों दिखाई दिए···और वह फिर रोने लगी। पछाड़ खा-खा कर धरती पर गिरती और बार-बार कहती थी···"स्वामी, यह क्यों हुआ, कैसे हुआ?" जाने वह कितनी देर तक यों ही पागलों की तरह रोती रही कि एक-दम मुरारी आकर बोला : "भाभी, यह ऐसे हुआ कि श्यामू ने मेरी स्लेट तोड़ दी, मैंने उसके थप्पड़ मारा। छाया ने झट से स्वामी की पगड़ी ट्रंक में रख दी, आंखें पोंछ कर उठ खड़ी हुई और मुरारी का हाथ पकड़ कर बाहर आ गई।

केशव की शादी हो गई, छाया जोड़े को आशीर्वाद देने गई। अपने केशव की नई नवेली दुल्हिन को देख कर प्रसन्न हुई लेकिन केशव उससे छिन गया, यह जानकर उसे मर्मान्तक पीड़ा भी हुई। वह दूर से ही उसे देखती रही, पर पास न आ सकी। केशव रेल से उतर कर चारों ओर उसे ढूंढने लगा पर छाया कहीं दिखाई न दी। वह बहू के साथ तांगे पर सवार हो गया और गांव की ओर चल पड़ा। छाया सड़क के एक कोने पर खड़ी उसे देखती रही, केशव ने उसे देखा, एक-दम उसकी आंखों में चमक पैदा हुई। वह तांगे को

रोक कर उतरना ही चाहता था कि उसकी पत्नी ने कहा "बैठो, क्या देख रहे हो ?" अवसर को देख, जाने केशव कैसे सयाना होकर बैठा रहा। तांगा चला जा रहा था और उसका मन उड़ कर छाया के आंचल से बंधा पीछे की ओर भाग चला। उसकी आंखों में आंसू थे। पत्नी घबरा गई। केशव ने कहा : आंख में धूल पड़ गई है।

कई वर्ष बीत गए। केशव अब जंगलात के महकमे में रेंजर है। अच्छा वेतन पाता है। बीवी पढ़ी-लिखी, होशियार, सुन्दर और सली के वाली है। दिन मज़े में कट रहे हैं। वह छाया को भूल सा गया है। याद करने की फ़ुरसत भी नहीं। एक दिन अचानक मास्टर जी का तार मिला : "छाया सख्त बीमार है, शीघ्र आओ।" अम्मा पूछती ही रही, यह छाया कौन है, किसका तार है ?" केशव चुप रहा और झटपट सामान बांध कर स्टेशन की ओर चल पड़ा। उसके जंगल के ठिकाने से स्टेशन पांच मील दूर था। सवारी भी नहीं। वह भाग कर आया। पर पहली गाड़ी न पकड़ सका। उधर छाया मृत्यु-शैया पर पड़ी तड़प रही थी। उसकी आँखें किसी के आने की प्रतीक्षा में थीं। किसी दिन जाते हुए जिसकी ओर से आखें फिरा लीं उसे देखने के लिए आंखें खुली थीं और प्राण छटपटा रहे थे। बहुत देर चुप रह कर बोली : "भैया, अब समय नहीं, मुरारी, इधर आ बेटा।" मुरारी मां के सामने आ गया। उसके बाप की बीस साल की बंधी पुरानी पगड़ी को उसके सिर पर रख कर देखने लगी। फिर उसे उतरवा कर एक टोपी उसके सिर पर रख कर एक टक देखा और बोली : "बेटा, तेरे लिए केवल तेरे लिए।" इतना कहकर उसने जोर का श्वास लिया और प्राण केशव का स्वागत करने के लिए बाहर आ रहे, आंखें खुली रह गईं। उसी वक्त केशव ने दहलीज में पांव रखा, घर भर में कुहराम मच रहा था।

काजल की रेखा

उसका नाम है माया। गाँव का कोई अभागा मनुष्य ही होगा जो उसे नहीं जानता। यदि कोई माया को नहीं जानता तो इसका मतलब यह है कि वह गाँव को नहीं पहचानता। माया को जान लेने के लिए गाँव को जान लेना और गाँव की पहचान के लिए माया को जान लेना ज़रूरी है।

माया जैसी शरीफ़ और भलीमानस औरत गाँव भर में नहीं मिलेगी, यह बात उसी तरह सच है जिस तरह यह सच है कि माया जैसी झगड़ालू औरत भी दूसरी नहीं। लड़ाई-झगड़ा तो ख़ैर अकेले नहीं हो सकता परन्तु माया का हँसना-रोना भी अकेले नहीं होता सिवाय उस समय के जबकि उसका पति घर के भीतर उसे पीट रहा हो, उस समय लोग घर-घर हँसते हैं और माया अकेली रोती है। वैसे यदि कोई और रोए तो माया उसका साथ देती है। हँसेगी तो अकेली नहीं पास-पड़ोस सभी को हँसा देगी, हँसना ही पड़ेगा, मजबूरी है, और रोएगी तो सब को रुला देगी।

उसकी बातें, बस कुछ न पूछिए, अकबर-बीरबल नामा पढ़ने की आवश्यकता नहीं। बातें हैं कि मीठी चटनी, मिठास और करारेपन से ज़बान चटख़ारे लेने लगती है और चुभती और लगती इस तरह हैं जैसे मालवे की पीली मिर्चें हों। बातें करती जाएगी, हँस-हँस पेट में बल पड़ते जाएंगे, आँखों में आँसू आ जाएंगे और साथ ही माया के हाथों की थपकियाँ कंधे या घुटने की मुरम्मत करती जाएंगी। बहुत सी

औरतों का यह स्वभाव होता है कि बातें करती जाएंगी और सुनने वाले के घुटने या कंधे पर धप्पे लगाती जाएंगी। माया के इस स्वभाव से बहुत भय आता है।

"सुन बेटा, मेरी बात सुन, और साथ ही एक धप्पा दिया कंधे पर।" अरी ओ छोकरी, पीहर का बचाय और सुसराल को खाए, सुन तो, और एक धौल जमा दी घुटने पर, और यदि किसी ने रोका, 'चाची', वह जगत चाची है, "पीटती क्यों है? मुंह से बात कर न, तो चाची कहेगी, चाची के प्यार के तमाचे नहीं खाए जाते, जब खसम पीटेगा तो पता चलेगा,"...यह तो आगे के लिए प्राटीस करा रही हूं। अंग्रेज़ी के दो चार अक्षर बिगड़ कर जाने किस प्रकार अनपढ़ मामा की ज़बान पर धर कर गए हैं और उसके लिए जो मारपीट न करे वह असली पति नहीं होता—उसकी ज़िन्दगी की किताब में पति का मतलब है 'मार-पीट', और अपने पति की इस मार पीट के नीचे दबे हुए माया के जज़्बे और अरमान अभी तक उसी तरह सिसकते हैं, मर नहीं गए। तीस वर्ष तक की मार पीट में भी उसने इनको किस तरह जीवित रखा और मुख पर के हंसी के खेल को मिटने नहीं दिया, इसकी भी एक कहानी है।

ऊपर से देखने को माया बस तमाशा है, निरी खेल है बात करेगी तो बातबात में कहावतें कहेगी, गाड़ी के बाबू और यात्री की नकल उतारेगी तो कमाल, व्याख्यान देने वाले उपदेशकों की तरह खड़ी हो कर जिस समय गांव की राजनीति की बातें करेगी, या नवयुवती बालाओं में बैठकर ढोलक पर गीत गाएगी तो सबसीमाओं को पार कर जाएगी। गांव की बाल बधुओं, प्रौढाओं तथा वृद्धाओं का कोई जलसा जलूस सभा बैठक तब तक सफल नहीं मानी जाती जब तक माया उसमें भाग न ले रही हो। जवानों में जवान, बूढ़ियों में बूढ़ी और बच्चों में बच्ची निरी खेल, और भीतर इस लहराते हुए क्रीड़ा सागर के नीचे कितनी आग भस्म होकर बैठी है इसका अनुमान लगाना

कठिन है। उसके हृदय की चाह को कोई राह न मिली, कुराह पर वह चल न सकी, जहां खड़ी थी, वहीं घूमती रही, कोस के कोस पार कर लिए पर कहीं पहुंच न सकी। माया के पुत्र हैं, पुत्रियां हैं और भगवान् करे पति भी है, खाने पीने की परवाह नहीं, यजमान जीते रहें, किस चीज़ की कमी है। यजमानों में शादी-ब्याह हों तो माया की पांचों घी में कोई मर-मरा जाए तो पौ बारह, तीन काने तो होते ही नहीं। एक कमी वह जीवन में अवश्य अनुभव करती है, उसका पुरोहित पढ़ा लिखा बाबू होता, नहीं है तो न सही, कुछ धर्म-कर्म, ज्ञान-ध्यान की बात ही सुनाने वाला होता—यह भी नहीं तो न सही, वह किसी की सगी नहीं पर अपने पुरोहित की ज़रूर सगी है, कभी किसी की ओर मैली आंख से नहीं देखा, फिर भी पुरोहित उसका सगा नहीं। अपने पुरोहित के लिए वह हर एक से लड़ जाएगी, औरतों को तो छोड़िये मर्दों के साथ भी दोदो हाथ कर लेगी, लेकिन पुरोहित, वह तो निरा मिट्टी का माधो है, बेहद शरीफ़, किसी के साथ ऊंचीनीची बात भी न करेगा, जैसे मुंह में ज़बान ही न हो, लड़ना तो भला दूर की बात है, उसे तो बस एक ही काम है। अपनी गाय के लिए घास लेने चल दिए, संध्या को घर लौटे, यजमानों के ब्याह शादी सगाई लोग में चले गए और यदि किसी से नर्म-गर्म दो बातें हो गईं तो घर आकर माया की पूजा कर दी, उसके हाड पांव सेंक दिए।

हाँडपांव भले ही सेक दे, इसका अब माया को भय नहीं न ज़्यादह दुःख ही है, और हाड-पाँव भी अब आदी हो गए हैं, दूसरे चौथे पड़ न जाएं तो हाथ-पांव जलाने लगते हैं उसका विचार है कि इस तरह उसकी मुरम्मत न होती रहे तो वह आसमान में थेगड़ी लगादे, लेकिन दुःख तो यह है कि मारने वाला शृंगारना भी जानता है, पुरोहित के पास तो केवल मारपीट है, शृंगार की कोई बात ही नहीं, शृंगार भी न सही, कोई मीठी बात ही सही—कसम खाने की

नहीं फिर भी घर के बाहिर के सब काम-काज, लड़ाई, झगड़ा, बाज़ार पंचायत जो करे माया--मतलब यह कि माया पुरोहित की मैनेजर है और तनख़्वाह के नाम पर उसे मिलती है मार-पीट वह भी सप्ताह में, आठ सात बार ही। माया के जीवन के सूनेपन को मैंने एक बार अनुभव किया था। कई वर्ष बीते, हमारे घर में पूर्णिमा के दिन सत्यनारायण की कथा हो रही थी कथा करने वाले पंडित जी किसी विशेष कारण से न आ सके थे। माता जी के आग्रह पर मुझे ही कथा कहनी पड़ी।

बड़े संकोच के साथ कथा प्रारम्भ की तो भी कथा में कुछ ऐसा आनन्द आया कि मैं ही नहीं मेरे सामने बैठी हुई थोड़ी सी जनता, जिसमें अनपढ़ स्त्रियां ही थीं, उनका मन भी बहुत प्रसन्न हुआ। कुछ ऐसा प्रसंग भी आ गया कि मेरी मां की आंखों में आनन्दाश्रु आ गए, लेकिन माया तो जैसे फूट-फूट कर रो उठी---मैंने पूछा—

चाची क्या बात है, तुम्हारे रोने में रस नहीं दुःख का आभास हो रहा है।

कहने लगी—बेटा, क्या कहूँ, कहीं तुम्हारे जैसा पढ़ा-लिखा मेरा पति भी होता, तो मैं.....

शेष बात उसके मुंह में ही रही, मैं तो शर्म के मारे बाहिर भाग गया परन्तु सब स्त्रियाँ खिलखी उड़ाने लगीं उसके पीछे पड़ गईं।

माया की मनोदशा का यत्किंचित अनुमान उस दिन कर सका था, परन्तु उसकी अन्तर्व्यथा का पूरा २ पता इससे कई वर्ष बाद चला—हमारे घर में कोई उत्सव था, शायद छोटे भाई की मंगनी हुई थी, गाना बजाना खत्म हुआ तो माया मेरे पास आकर बैठ गई और बोली—

"बेटा सुनती हूँ तुम कहानी भी लिखते हो।"

मैं हैरान था, इसे यह बात कौन बता गया, तो भी मैंने कहा—चाची, कहानी वानी तो क्या लिखूंगा, यों ही शौक पूरा कर लेता हूँ।

वह बोली—देखो बेटा, टालो मत, तुम मेरी भी कहानी लिखोगे—

"तुम्हारी कहानी, चाची ?"

हां, मेरी कहानी, हैरान क्यों होते हो, समझते हो कि अनपढ़ गंवार, देहाती औरत की कहानी नहीं होती, क्या उसके हृदय नहीं, मेरे इस वृद्ध शरीर को देख रहे हो, मेरी आँखों में मेरी मिटी हुई जवानी की झलक तुम्हें दिखाई नहीं देती, मेरी जवानी के जागते हुए सपने तुम्हें नज़र नहीं आते, वह कहती जा रही थी और मैं सुन रहा था।

'बेटा, मैं सदा बूढ़ी नहीं थी, मैं भी कभी जवान थी, सुघड़ और सुन्दर-रूप की खान, अपने रूप पर मैं बलिहार थी और मेरा रूप मुझ पर न्योछावर, और मेरी जवानी जैसे मेरे रूप से खेलती फिरती हो, जब मैं अपने पीहर में बिल्कुल बच्ची ही थी तो लड़के-लड़कियां मुझे चिढ़ाने के लिए कहा करते थे—

माया माया माया, तुझे बीच डिब्बे के पाया
डिब्बे को लगा दीं मेखें
तुझे माया किधर से देखें।'

मेरी उम्र की लड़कियाँ भी मुझे यही कहकर चिढ़ाया करती थीं और मैं उन्हें पीटने के लिए उनके पीछे २ भागा करती थी, वे थे बचपन की बेखबरी के दिन, अल्हड़ बचपन जब तन-बदन की भी सुध सार नहीं होती, और जब मैं जवान हुई, विवाह हुआ, ससुराल आई, सोलह शृंगार किए बैठी थी, मेरी सास ने ड्योढ़ी का दरवाजा बंद कर दिया था, पर न जाने गली-कूचे के बालकों को कैसे पता लग गया कि मेरा नाम माया है, और वे बाहिर खड़े होकर दरवाजे की दराज़ में मुंह लगाकर मुझे देखने का जतन कर रहे थे और कह रहे थे—

माया माया माया तुझे बीच डिब्बे के पाया
डिब्बे को लगादी मेखें
तुझे माया किधर से देखें

उस समय अपने जोबन पर आए अपने रंग-रूप को देखकर मैं सोच रही थी, यह रूप और यह जोबन डिब्बे में बंद करके रखने योग्य ही है और ऊपर कील जड़ दिए जाएं जिससे कि यह सदा यों ही खिला रहे, इसका रंग-रूप न बिगड़े, परन्तु जिसके लिए मेरा यह रूप और जोबन था, प्यार भरे अरमान थे, उसके लिए रूप जवानी कोई वस्तु न थी, उसकी आँखों में इनका कोई मूल्य न था। उसे तो एक औरत चाहिए थी, औरत—फिर वह कोई भी हो, बूढ़ी हो या जवान, रूपवती हो या कुरूप, गुणवती हो या गुणहीन, औरत जो हर समय उसकी हर उचित-अनुचित बात माने और उसकी मारपीट सहन करने के लिए तैयार रहे। मैंने तो किसी बात से भी कभी इन्कार नहीं किया, पिटी भी खूब पर जाने वह इन्सान किस धातु का बना हुआ है कि उसकी आँखों में प्यार का एक कण भी दिखाई न दिया। उसे यह पता नहीं कि मैं जवान हूं, रूपवान हूँ, प्यार का रूप हूँ, न, कुछ भी नहीं। मैं यदि अपने रूप का शृंगार करती भी तो केवल उसके लिए, पर वह न तो रूप को परखता है न शृंगार को उसे समझ है, फिर मैं किसके लिए इतने यत्न से शृंगार करती हूँ? मेरे मन ने हार नहीं मानी, मैं निराशा के गर्त्त में नहीं गिरी—मैं अपने लिए अपना शृंगार करने लगी, अपने रूप पर मैं स्वयं आसक्त हो गई। स्वयं का शृंगार करके बड़ी प्रसन्न होती थी, अपने रूप का स्वयं मुझे ही नशा चढ़ जाता था। अपनी छाया को आरसी में देखकर कभी खिलखिला-कर हंस देती तो कभी फूट २ कर रो पड़ती, जैसे शीशे में बैठी हुई मूर्ति को मनाने का यत्न करती, उसी से प्रेम करती, जी भर के प्रेम करती थी।

एक दिन मेरा पुरोहित कबूतरों के लिए दाना लेने गया था, उसे अपने कबूतर बड़े प्यारे थे—शायद मुझ से भी और अपनी माँ से भी अधिक, क्योंकि अपने कबूतरों को वह कुछ न कहता था, हां, माँ पर जरूर कभी कभार हाथ चला देता था। हां तो जब वह बाज़ार की

तरफ गया तो मैं कबूतरों के जोड़े को दड़बे में देखने चली गई, देखना चाहती थी, कैसे हैं यह कबूतर जिन पर वह जान छिड़कता है। मैंने देखा जंगली कबूतरों का जोड़ा, नर और मादा, कैसे स्नेह और दुलार से पास-पास बैठे एक दूसरे को निहार रहे थे—मौन २ में ही वे कितनी स्नेह-भरी बातें कर रहे थे—कबूतर पहले तो भरी भरी आंखों से कबूतरी को देखता रहा फिर उसके इर्द-गिर्द चक्कर काटने लगा जैसे नाच नाच कर उसे रिझा रहा हो, मना रहा हो। मेरे अन्तर से एक आह निकल गई, मैं तो इस कबूतरी से भी गई-बीती हूँ, मैं तो रिकार्डों वाली उस मशीन की तरह हूँ, जब चाहा चाबी दी और उसे बजा लिया, वह बोलेगी, सुबह हो दोपहर, संध्या, आधी रात, पिछला पहर जब चाहो मशीन कभी जवाब न देगी, लेकिन मशीन वाले उसे झाड़-पोंछ साफ़ करके तो रखते हैं, उन्हें उसकी संभाल तो होती है, मैं तो उस मशीन से भी गई बीती हूँ। बात कहां की कहां आ गई, माया ने एक ठंडी साँस ली, और ज़रा ठहर कर फिर कहने लगीं।

हां, तो मेरा पुरोहित कबूतरों के लिए दाना और गाय के लिए घास लेने गया हुआ था, उस दिन पुरोहित को पढ़े-लिखे बाबू के रूप में कल्पना करके उसके आने की राह देखने लगी, खूब बन-ठन कर। आज मैं अपने लिए नहीं सच्चे हृदय से अपने पुरोहित के लिए सज-संवर कर बैठ गई, मैं अपनी परीक्षा करना चाहती थी, देखूं मेरा रूप जल पत्थर में भी घर कर सकता है कि नहीं वह आया, घास का गठर उठाए, मैं उसके आगे-पीछे दाएं-बाएं चारों ओर फिरने लगी, ठीक उस कबूतर की तरह जिसे मैं अभी २ देख कर आई थी। उस समय मुझे जिस ओर से भी देखा जाता मैं पूर्ण थी। पर उसकी आंखों में मस्ती नहीं सकती थी, बड़ी कुरखत आवाज में उसने कहा—यह गट्ठर तो उतरवा लो। मैंने फुरती से वह गट्ठर उतरवाया, उसने नरम-नरम हरी घास ओबरी में फेंक दी—वह नरम-नरम हरी-भरी घास"जी चाहा घास में लेट जाऊं और लेटती ही रहूं, उसकी कोमलता को अपने

अन्तर में बसा लूं और उस घास में मेरा रूप नाचने लगे कि इतने में उसने अपने हाथ-पांव धो लिए और मैंने अभी की उतारी हुई गरम गरम नमकीन पराठियां और दही का कटोरा उसके सामने ला रक्खा। रोटी मिस्सी थी इसलिए प्याज खाने को उसका जी ललचाया। उसने प्याज मांगा, प्याज लोहे के छीके में रखे थे, पंजों के बल खड़ी होकर ऊंचे लटक रहे छीके में से मैंने प्याज उठाना चाही, एक तो मेरे हाथ में आ गया और एक हाथ से गिर कर लुढ़कता २ नाली में चला गया। उसे पकड़ने के लिए मैं भागी, पर मेरी एक न चली। अपने हाथ का प्याज मैं पुरोहित के सामने परोसी ही रख गई कि वह भूखे शेर की तरह गरजा—

"यह प्याज क्या यों ही आ जाते हैं, तेरे बाप ने तो भेजे नहीं, इसका हर्जाना कौन भरेगा।"

मैं सोच रही थी, यह प्याज को रो रहा है"यहां सारी जवानी ही नाली में बही चली जा रही है। इसे कौन भरेगा—कि इतने में उसने मिर्चमसाले वाला डंडा उठा कर मेरे सिर में दे मारा, सिर फट गया लहू की धार बह निकली, जैसे मेरे जिस्म का ही नहीं मेरे अन्तर्भावों का खून भी बह रहा हो और मुझे चारों तरफ से रंग रहा हो मेरे अन्तर से एक भभूका सा उठा, आँखों में अंधेरा छा गया, आँखों में मोटेमोटे आँसू आ गए, पर जाने मुझ में कहां से एक अदम्य बल आ गया, मैंने उस तूफान को थाम लिया, आँसुओं को आँखों में ही पी गई, घावों से बह रहे लहू का ख्याल न रहा, मैं कब इसके लिए थी, मैं तो अपने आप के लिए ही हूँ, अब मुझे अपनी गहरी चोट की उतनी चिन्ता न थी जितनी अपनी आँखों में जतन से डाले हुए काजल की, काजल की उस रेखा को निगोड़े आंसुओं ने धो न डाला हो, पलक मारते शीशा मेरे हाथ में था और शीशे में मैं अपना मुंह नहीं अपनी आँखों को तक रही थी, मेरी आँखों में डाली हुई, बड़े जतन से संवारी हुई, काजल की रेखा, वैसे ही थी, मिटी नहीं,

मैं खिलखिला कर हंस पड़ी, मेरे ज़ख्म रो रहे थे पर मेरे नयन हंस रहे थे, नयनों में काजल की रेखा नाच रही थी, मैं एक बार फिर ठहाका मार कर हंसी, उस हंसी में मिठास थी पर एक लम्बी और गहरी चीख भी थी, अपनी लाश पर खड़ा होकर ही कोई इन्सान इस तरह हंस सकता है…"

माया सचमुच हंसने लगी, उसके चेहरे पर हंसी पर आंखों में आंसू थे। उसे चुप देखकर मैंने पूछा "चाची फिर !"

उसने कहा, फिर क्या बेटा, अभी शीशा मेरे हाथ में ही था और और काजल की रेखा और लहू की धार अभी सुखदुःख सी बादल और बिजली सी मिलकर बहने ही पाई थी कि पुरोहित मेरे पास आ गया, और फिर।

"फिर…"

इतने में गली की चुस्कड़ से एक आवाज़ आई।

"अरे कहां मर गई तू।"

माया ने उसी सुर में आवाज़ दी, आई अभी आही रही हूं।

माया गई नहीं, खड़ी हो गई और कहने लगी।

जाने मैं कब विधवा होऊंगी, बता तो सही बेटा कब मेरा सुहाग फूटेगा।

माया ने कभी अपने मरने की कल्पना नहीं की, हां, पुरोहित के मरने के बाद वह किस तरह विधवा हो जाएगी, इस विचार से खुश ज़रूर हो लेती थी। लेकिन यदि कोई दूसरे उसके पुरोहित के बारे में कोई ऐसावैसी बात कह दे तो उसकी सात पीढ़ियां तक माया के आशीर्वाद से नहीं बच सकतीं, अपने पुरोहित की वह बाड़ बनी रहती है। उसे शायद यह विश्वास था कि वह विधवा नहीं होगी, अपने मरने में उसे किसी दूसरों के बन्धन की चिन्ता रहती थी, अपने विधवा होने में अपनी मुक्ति देखती थी। तो भी वह अपने विधवा होने की बात केवल मुंह से कहती भर थी, हृदय से ऐसा नहीं

चाहती थी। जीते जी पुरोहित से कभी धोखा न करेगी, हां उसका मन यह जरूर चाहता था जैसे कि कोई औरत नहीं चाहती कि अगले जन्म में पुरोहित उसका पति न हो। इसीलिए शायद उसका मरण न चाहते हुए भी उसके मरने की बात कहकर इतना पाप जोड़ लेना चाहती थी जिस से कि दूसरे जन्म में उसे यह पति न मिले।

मुझे चुप देख कर उसने मेरी ओर देखा, जैसे पूछ रही हो, फिर बता तो सही बेटा—चुप क्यों रह गया, इतने में गली के मोड़ से फिर वही कुरख्त आवाज़ आई।

अरे कहां मर गई। आएगी कि वहीं पहुंचूं। हाड पांव जला रही है क्या

'आई-चली आ रही हूँ। इतना कह माया ने हरिण की तरह चौकड़ी भरी और बूढ़ी हो रही माया एक छलांग में गली की नुक्कड़ तक पहुँच गई। और पुरोहित ने जाने उसकी कोई हड्डीपसली साबित छोड़ी कि नहीं।

मैं यह सोच रहा था कि माया की कहानी पूरी हुई या अधूरी, ज़िंदगी की कहानी सदा अधूरी रह कर भी सदा पूरी है, लेकिन माया की आंखों में काजल की रेखा फिर भी कभी सजेगी, या वही काजल और उसकी रेखा समस्त आयु भर के सूने-पन को भरने के लिए काफी थी।

अभिशाप

गर्मियों की दुपहर कोठी के एक कमरे में अकेली बैठी रेवा रो रही थी और उसकी तीन वर्ष की छोटी बच्ची रो-रो कर सो गई थी, बच्ची रोती थी तो रेवा उसे पुचकार कर, गीत गाकर, न हो तो झिड़क कर तंग आ गई तो मार-पीट कर सुला देती थी, पर अब जब वह खुद रो रही थी तो उसे कौन चुप कराए, कौन उसे पुचकारे या फिर मार पीट कर ही सुला दे. उसने अपना यह अधिकार स्वयं ही खो भी दिया था, और जिसके लिये उसने मां बाप भाई-बहिन तक को छोड़ दिया था, वह भी उसकी बात तक न पूछता था।

यह सोचती थी उसके भाग्य में ही यह सब दुःख और चिन्ता क्यों थी, जब कि उसकी छोटी बहिन, उसकी सखी-सहेलियां, उसकी उम्र की लड़कियां, सब हंसती-खेलती और रंग-रलियां मनाती थीं।

उसे अपना दोष खोजे भी न मिलता था। उसने अपनी विचार-शक्ति पर बड़ा जोर दिया। इस जीवन में तो ऐसा कोई पाप न किया था शायद कभी च्योंटी तक को नहीं सताया फिर उसे यह ढेरों दुःख क्यों मिल रहा है। वैसे देखने को वह सुखी थी, दो लड़कियां पढ़ती थीं, बड़ी होशियार और समझदार, पति उसका कालिज में पढ़ाता था अच्छा वेतन मिलता था उसे, खान-पान की कमी न थी, जो कुछ साधारणतया एक गृहस्थ को चाहिये वह सभी कुछ था। हां, एक लड़का न था, जो हुआ था वह जन्म के कुछ घंटे बाद ही मर गया था, बड़ा सुन्दर और सलोना, उसने एक नजर भर कर उसे देखा भी था

शायद उसकी वह नजर हो उसे खा गई ऐसा ही वह सोचती भी थी, पर वह जवान थी मुश्किल से २५, २६ की होगी और लड़के की आशा भी की जा सकती थी, भगवान् के घर किस बात की कमी थी, पर अब तो उसकी आशा उसे ही छल कर रह जाती थी, संतान तो न चाहो, तो भी हो जाती है। पर जीवन में यही सब कुछ तो नहीं।

वह पढ़ा-लिखा पति चाहती थी, खुद चाहे आठवें दर्जे तक ही पढ़ी थी, पर सूझ-बूझ उसकी बहुत अच्छी थी, सीना पिरोना, काटना काढना सभी कामों में वह दक्ष थी; बात करने में चतुर, इसीलिये तो उसके पिता भी उसके लिये पढ़ा-लिखा ग्रेजुएट वर ही ढूंढते थे। पास के गांव का एक शास्त्री पास लड़का उसके लिये देखा गया तो उसने मुंह बना लिया था, और मां समझ गई थी इसलिये वहां बात पक्की न हो सकी, यही क्या उसे तो कोई घर और वर पसन्द न था, किसी सहेली की शादी हो तो वह जरूर पहुँचती, जीजा को चिढ़ाती उसे ऐसी-ऐसी सुनाती कि वह तंग आ जाता; खड़कियों के सामने उसके चलने की नकल उतारती, और फब्तियां कसती, अरी जा तुझे भी क्या मिला है रंग कोले का हैट सोले की—

"अच्छा भई, हमारे भाग्य में जो था सो हमें मिल गया अब तू अपने लिये कोई अनिरुद्ध ही ढूंढेगी, कोई चित्रलेखा तैयार कर ले। सहेली चिढ़कर जवाब देती।"

मां उसकी ऐसी हरकतों से तंग थी, पिता ने कई जगह बात की पर सिरे न चढ़ी, आखिर उन्होंने विश्वनाथ को ठीक कर लिया। वह ग्रेजुएट था, और किसी स्कूल में पढ़ाता था। घर की स्थिति उतनी अच्छी न थी, रेवा के अपने पिता भी कोई ऐसे धनी न थे। पर रहन सहन अच्छा था, गुजारा चलता था।

रेवा की शादी पर बरात आई तो उसमें सब मिलाकर, दर्जन से दो चार ऊपर ही आदमी थे। रेवा जल ही गई थी, यह भी कोई

बारात है, जैसे शोक मनाने आये हों, दो-चार बूढ़े तीन-चार बच्चे, दो एक जवान पर बूढ़ों से गये बीते किसी के पैंट नहीं, सूट नहीं, बस यों ही आ गये जैसे घास काटने आए हों। और कोठे पर चढ़ कर उसने दूल्हा भी देख लिया था, यह भी कोई आदमी है ठिंगना सा कद और भारी-भरकम देह, बस गेंडा, अधिया सा आदमी, और वह रोने लगी, पर फिर मन को धीरज दिया। गांव में किसी का दूल्हा ग्रेजुएट तो नहीं, बस यही सांत्वना उसे थी, और इसीलिये आंखों के आंसू पोंछ वह विवाह वेदी पर जा बैठी थी।

शादी के बाद वह अपने बी० ए० पास मास्टर जी से प्रेम भी करने लगी थी, उसका कद अब उसे बुरा न लगता था। भारी-भरकम जिस्म भी भाने लगा था। पर उसकी एक आदत उसे अच्छी न लगती थी, वह परले सिरे का कंजूस था। एक-एक पाई का हिसाब रखता, घर में रत्ती भर नमक भी जाया जाए तो रेवा को खाने दौड़ता था, जरा जरा सी बात पर चिढ़ जाता था; शक्की इतना कि गली-मोहल्ले में किसी औरत से भी बात करे तो रेवा को ताड़ता था, उसका बस चले तो रेवा को बुर्के में रखे। और वह तंग आ जाती थी, साबुन-सब्जी तक को भी तरस जाती थी, कहीं प्याज का छिलका भी इधर उधर पड़ा दिखाई दिया तो मास्टर जी उलझ पड़ते थे। कभी कभार हाथ भी छोड़ दिया करते थे। और रेवा पीहर चली जाती थी और तब वह महीनों वापिस न आती थी।

विश्वनाथ चिट्ठियां लिखते, आदमी भिजवाते पर जब तक खुद न जाते तब तक वापिस न आती थी, पर अब कि उसे आए लगभग छः मास हो गये, न तो कोई चिट्ठी-पत्री आई और न उन्होंने कोई आदमी ही भेजा, बल्कि उसने खुद एक-दो बार चिट्ठी लिखी और हार मान कर बुलाया भी पर मास्टर जी तो लोहे के हो गये। वह हैरान थी, अब कि तो लड़-झगड़ के भी नहीं आई, उन्होंने एम० ए० की तैयारी करनी थी इसलिये खुद ही तो भेजा था। अब तो परीक्षा हुए भी

महीनों हो चुके, गरमी बीती, बरसात आई, नवरात्रे बीते, दशहरा निकल गया, दिवाली भी बीत गई और कोई खैर-खबर नहीं, अब तो उसका एक-एक दिन पहाड़ सा बीतने लगा; न रह सकी तो सब मान हठ भूल मां के लाख मना करने पर भी कि स्वयं जाने में हमारी बदनामी होगी, वह चली ही गई।

उसके आने पर विश्वनाथ प्रसन्न तो हुआ पर वह प्रसन्नता बाहिर को, दिखावे की थी, अन्तर का आह्लाद न था, उसके भाव से यह प्रकट हो रहा था—आ गई ठीक हुआ न आती तो और भी अच्छा था। वैसे वह जरूरत की सब चीजें ले आया। उत्साह के साथ घर के सब काम-काज में हाथ भी बंटाता रहा, रेवा से खुल-खेल कर बोलता भी रहा पर रेवा को संतोष न था, पति के प्यार में वह स्वच्छंदता वह बनावटहीन सरलता, वह अकृत्रमता न थी, जो स्नेह और प्यार के प्राण होती है। अब वह बात-बात पर लड़त-झगड़ता भी न था, उतनी कंजूसी भी न करता था, पर इससे तो वह लड़ाई-झगड़ा पर सरल सहज स्नेही ही कहीं अच्छा था, वह हैरान थी पर किसी तरह बात को पा न रही थी, कि एक दिन, वह छुट्टी का दिन था, सवेरे ही घर के बाहर एक घोड़ी आ खड़ी हुई, और किसी आदमी ने आवाज दी, मास्टर जी आइये जल्दी कीजिये, और मास्टर जी एक-दम तैयार होने लगे, यह कहां की तैयारी हो रही है, "वह घोड़ी कहां ले जायेगी, आपको," रेवा ने पूछा।

"नन्दपुर।"

नन्दपुर, वहां क्या है?

"जैलदार की लड़की जो पढ़ती है। प्रति रविवार या जब छुट्टि हो वे घोड़ी भेज देते हैं और मैं पढ़ाने जाता हूं, रात वहीं रहना पड़ता है और अगले दिन सवेरे ही घोड़ी छोड़ दी जाती है खाना-पीना उन्हीं के यहाँ और चालीस रुपये मासिक वेतन।

'यह सौदा महंगा है, मैं न जाने दूंगी", बहुत हो लिया यह

पढ़ाने का खेल।

'तुम भी योंही फजीता खड़ा करती हो। ऐसे अच्छे अवसर कहीं रोज हाथ आते हैं। लड़की के बाप ने एम० ए० की परीक्षा का सारा खर्च दिया। बड़े आदमी हैं। और तुम विश्वास न करोगी, लड़की बड़ी भली है और मैंने तो उसकी शक्ल तक नहीं देखी।'

'तो फिर पढ़ाई कैसे होती है।'

"बीच में पर्दा डाल कर?" यह खूब रही, इससे तो जैलदार कं, यह न कहो कि टेलीफोन ही लगवा दें, यहां बैठे पढ़ा दिया, न घोड़ी भेजने का कष्ट न आने-जाने की खजालत, पर मैं सब समझती हूँ। औरत चाहे तो सात पर्दे भी काम न दें? रेवा अपनी बात पूरी न कर पाई थी कि बाहिर से आवाज आई। मास्टर जी जल्दी कीजिये न, कितना दिन चढ़ गया। जैलदार साहिब ने घोड़ी जल्दी वापिस लाने को कहा था। उन्हें शिकार पर भी जाना है।

मास्टर जी कपड़े पहन तैयार हो गये तो रेवा ने कहा,'अभी भोजन बना देती हूँ, खा-पीकर चले जाना।'

"नहीं रेवा, अब समय नहीं।" तब मुझे भी साथ ले चलिये? मैं भी आपकी शागिर्द को देख आऊंगी, कि कैसे पढ़ाई होती है। न हो तो मुझे भी पढ़ाना शुरू कर देना। घर में ही स्कूल हो जाएगा, तो हो जाऊं तैयार।

'अब नहीं अगले रविवार ले चलूंगा, उस से पूछ भी आऊंगा। और अगले रविवार मास्टर जी के साथ रेवा भी वहां पहुंच गई, उस का बड़ा स्वागत सत्कार किया गया, मोहिनी ने तो उसका मन मोह लिया। मास्टर जी को तो जीता ही था पर रेवा पर भी उसका जादू चल गया।'

मोहिनी उसी की उम्र की औरत थी, बल्कि उससे दो चार साल बड़ी। किसी अमीर घराने में शादी हुई थी पर पति रंगीले थे। कहीं और दिल लगा बैठे, और मोहिनी को मार-पीट कर निकाल दिया था।

गन्नान हुई न थी इसलिए पढ़ाई में मन लगाया था। बड़ी उम्र के कारण स्कूल कालिज तो जा न सकती थी और बड़े घर का नाम और मान भी रुकावट डालता था, इसलिए घर पर ही मास्टर जी को बुला लिया जाता था, देहात में कोई पढ़ाने आता भी कैसे? मास्टर जी कुछ तो कम वेतन के कारण तंग रहते थे और उन पर विश्वास भी था, वरना जवान लड़की किसी ऐरे-गैरे के हवाले थोड़े ही की जा सकती है। पहले-पहल पढ़ाई भी पर्दे की ओट ही होती थी; पर मोहिनी मुंह-जोर थी और घर में सब उससे डरते थे, दुःखी लड़की इसलिए जो चाहे करती थी, धीरे-धीरे मास्टर जी से हिल-मिल गई, पर्दे अपने आप सरक गए, उनकी जरूरत अब न थी। मोहिनी की बात में सम्मोहन जरूर था। रूप-रंग तो उतना अच्छा न था पर रख रखाओ बनाव-सजावट इस कमी को पूरी कर देती थी, और देहात के जलवायु के खुले रहन-सहन, बेफिक्र खान-पानके कारण देह गठी हुई और बलिष्ट थी।

रेवा को वह अच्छी ही लगी और उसने इतना स्नेह-प्यार दिखाया, ऐसी आव-भगत की कि मास्टर जी से भी अधिक रेवा उसकी हो गई, बल्कि रेवा और मोहिनी में जैसी निभती और बनती थी, वैसी मास्टर जी और रेवा या मास्टर जी या मोहिनी में भी न बनती थी, यह थी मोहिनी की करामात, और भोली रेवा भी चुपचाप ठगी जा रही थी, रेवा एक बार यहां आई तो यहां की ही हो रही, घर का सब सामान यहीं आ गया, मोहिनी ने उसे आने ही न दिया, पहिले मास्टर जी शहर से यहां पढ़ाने आया करते थे, और अब यहां से स्कूल जाने लगे, घोड़ी इतना काम न दे सकी थी, तो उसकी जगह साईकिल आ गया।

पहिले तो नए-नए सुख में रेवा भूली रही परन्तु अब उसे वस्तु-स्थिति का ज्ञान होने लगा, मास्टर जी कटे कटे से रहने लगे, मोहिनी ने कपड़े के परदे को हटाकर रेवा को जीता-जागता पर्दा बना लिया, इसीलिये उसे संवार सजाकर रखती थी। घर का पर्दा मैला हो तो घर

की शान जाती रहती है। पर परदे का हटाना, लगाना अपने हाथ की ही बात है, परदे का कोई जोर नहीं, जब यहां तक नौबत आई तो रेवा ने सिर पीट लिया।

मास्टर जी एम० ए० करके मास्टर से प्रोफेसर हो गये, रेवा खुश न थी, मोहिनी जरूर खुशी थी, उसके मास्टर प्रोफेसर बन कर कालिज में गये और उसे दे गये काम धाम के लिए एक नौकरानी और दिल परचाने और खेलने के लिये उस नौकरानी के बच्चे, दो लड़कियां, मास्टर जी अब भी आते थे, प्रति रविवार या जब छुट्टी हो, पर पढ़ाने नहीं, हफ्ते भर की थकान मिटाने, मोहिनी से मिलने, क्योंकि अब वह भी ग्रेजुएट हो चुकी थी, पढ़ाई की जरूरत न थी, रेवा से तो वे महीनों बोलते तक न थे। कभी भूल कर बोल भी लेते तो इसलिए कि उन्हें एक पुत्र की इच्छा थी, जो मोहिनी न दे सकती थी, रेवा से ही यह संभव था, परन्तु भाग्य की बात, हुई लड़की ही, जो अब तीन वर्ष की हो चुकी थी, जो अब रो रो कर सो गई थी, जिसे रेवा ने पुचकार कर, लोरियां सुनाकर, मार-पीट कर, सुला दिया था और खुद रो रही थी, उसे कोई पुचकारने वाला न था, तो भी उसके रोने ने ही उसे थपका-थपका कर सुला दिया था। रो रो कर थक कर सो जाने से पहिले वह यही सोच रही थी, यह सब किस दोष किस अपराध का दंड भुगत रही हूँ, और अब वह सोई सोई सपना देख रही थी। तीर्थ यात्रा की स्पेशल गाड़ी दिल्ली से चलने वाली है। रेवा के चाचा ही इसके प्रबंधक हैं। रेवा की माता जी और रेवा को वे साथ लिये जा रहे हैं।

यात्री बड़े प्रसन्न हैं। चारों धाम की यात्रा हो जायेगी, तीर्थयात्रा का पुन्य और केवल डेढ़ महीने में, सब के साथ, इतना आराम, भोजन शयन का प्रबन्ध भी गाड़ी में ही, मुहूर्त हो चुका था। मंगल श्लोक पढ़े जा रहे थे। इंजन सीटी देकर जैसे मंगलध्वनि का अनुसरण कर रहा था, रेवा सोच रही थी गाड़ी अबकी क्यों नहीं चल पड़ती, वह तो गाड़ी से भी पहले अपने सपना में हरिद्वार, मथुरा, द्वारिका सब जगह घूम

रही थी और गाड़ी चलते-चलते रुक जाती थी। एक यात्री की सीट बुक थी पर वह अभी आया न था, चाचा जो बेचैनी से प्लेटफार्म पर घूम रहे थे, "नहीं आना था तो तार दे देते. पर तुमें क्यों तंग किया दो मिनट की देर हुई कि गाड़ी का अगला कनेक्शन नहीं मिलेगा। लाइन रुक जायेगी, बस दो दिन बेकार पड़े रहना पड़ेगा किसी योंही से स्टेशन पर फिर सब मेरी जान को रोयेंगे, एक करे और सब भरें", परन्तु इतने में ही उनकी नजर एक दुबले-पतले नौजवान पर पड़ी, वह भागा-भागा आ रहा था, चारों ओर घबराई नजरों से देख रहा था पर गाड़ी न दिखती थी, चाचा जी खुशी से उछल पड़े आओ मनहर बाबू इधर आओ यह रही तुम्हारी सीट, आभी जी की सीट के सामने ही, हमारी भतीजी भी जा रही है। पर तुमने तो यार आज सारा मुआमला ही चौपट कर दिया कहाँ रह गये थे, अच्छा अच्छा अब बैठ जाओ सामान तुम्हारा हिफाजत से रखवा दिया, देर से आने की कैफियत रास्ते में सुनते रहेंगे, बस बैठ ही जाओ।

मनहर बैठ गया तो गाड़ी चल पड़ी, यात्रियों ने गंगा मैया की जय बुलाई और तीर्थयात्रा स्पेशल मथुरा, वृन्दावन, आगरा, अयोध्या, इलाहाबाद, बनारस, द्वारिका, जगन्नाथ पुरी घूमती हुई हरिद्वार पहुँच गई। एक बार सारे तीर्थों को देखने के बाद अब स्वप्न में रेवा सब कुछ वैसे ही देख रही थी। स्वप्न की गाड़ी महीनों का चक्कर क्षणों में काट रही थी। मनहर सरल प्रकृति का सुन्दर युवक कोई छल बल नहीं, पढ़ा लिखा, भोली-भाली आकृति, घर से दुःखी था इसीलिये तीर्थ-यात्रा में मन के दुःख को भूल जाना चाहता था। दफ्तर से दो महीने की छुट्टी ले ली थी। गत वर्ष उसका विवाह हुआ था, पत्नी सुन्दर मिली थी, पढ़ी-लिखी। उससे दिल मिल गया था परन्तु उसे जीवन की डोर लम्बी न मिली थी। उसे लेकर वह हरिद्वार आया था, कुम्भ का मेला देखने, वहीं वह हैज़े का शिकार हो गई थी। और पत्नी को गंगा जी की भेंट कर वह चला आया था। अब फिर गाड़ी हरिद्वार जायगी।

वहीं उसकी पत्नी उससे छिन गई थी, क्या गंगा मैया उसे वैसी ही और पत्नी न देंगी ? उसके ब्याह की बात कई बार उठी पर मन का शोक दूर न हुआ था और उसने दुबारा शादी करने का विचार छोड़ दिया था. आजीवन ओंही रहने का निश्चय कर लिया था। पर जाने अब उसका मन क्यों डोल गया था। गाड़ी में बैठते ही उसने एक निगाह रेवा पर डाली तो उसे वह अच्छी ही लगी फिर तो तीर्थयात्रा में बार-बार उसे देखने का अभ्यास होता गया और वह उसकी आंखों में चढ़ती चली गई। परन्तु रेवा को वह अच्छा नहीं लगा। हां, रेवा की माता जी को वह भला ही लगा था। माता जी बात-बात में उसकी सराहना करतीं, कैसा भला लड़का है, होनहार, जरा भी चंचलता नहीं, मिठबोला। या तो पूजा-पाठ करता है या फिर भजन गाता है। पुस्तक पढ़ता है, जाने क्यों इतनी छोटी उम्र में वैरागी सा हो गया है।

रेवा कुढ़ती, वैरागी न खाक, मेरी ओर यों आंखें फाड़-फाड़ कर देखता है जैसे खा ही जायेगा। बिज्जू जैसी शक्ल है, चेहरे पर ज़र्दी जैसे हल्दी की बोरी में से निकल के आया हो।

ज्यों-ज्यों तीर्थयात्रा गाड़ी चलती गई मनहर का मन रेवा के प्रति आकृष्ट होता गया, रेवा खूब सज-धज कर रहती, यत्न से बाल बनाती, चुन कर बारीक चुन्नी सिर लेती, आंखों में काजल के डोरे डालती, रंगीली दालुन करती, साटन का सूट पहनती, और बन ठन कर जान-बूझ कर मनहर के आस-पास चक्कर काटती। उसे रिझाने के लिये नहीं बल्कि उसे जलाने के लिये, तड़पाने के लिये, मनहर को वह लुभाती, उसकी ओर देखकर मुस्करा देती पर यदि वह साहस करके उससे बात करना चाहता या उसकी आंखों में अपने लिये भी कुछ देखना चाहता तो वह इस तरह कहर भरी नज़रों से देखती या इस तरह, हुंकार भरती जैसे कह रही हो·····"यह मुंह और मसूर की दाल। मेरे पास तक न फटकना, वरना मुझे जानते हो", और वह सहम कर उससे कोसों दूर हट जाता। पर जाने क्यों आशा उसे बढ़ावा देती ही रही।

संभवतः रेवा की माता के स्नेह और प्यार में यह राफलता झाँकती हुई देख रहा था। हरिद्वार आकर तो बस हद ही हो गई, उसने सारी झिझक, सारा संकोच छोड़ कर किसी न किसी तरह साहस बटोर कर रेवा की माता जी से कह ही दिया। मुझे अपना पुत्र बना लीजिये— माता जी, मै आपके योग्य नहीं पर आपकी पुत्री को सदा सुखी रखूंगा, वचन देता हूँ।

'तूने तो मेरे मन की ही कही बेटा, मैं तो घर बैठी ही गंगा नहा लूं। हम तो बल्कि लड़का ढूंढते ढूंढते थक गये, यह तो पुण्य ही हो। परन्तु तुम देख रहे हो लड़की जवान है ऊपर से समय कैसा आ रहा है। उससे पूछ लेना भी अच्छा है। मैं बात कर देखूंगी।

माता जी रेवा का रुख देख रही थीं, लड़की सख्त मिजाज है कहीं मेरे ही सिर को न आए, पर रेवा मनहर और अपनी माता की यह बातचीत छिप कर सुनती रही थी। और उसने एकान्त में भी वैसी ही मुख मुद्रा बना कर कहा, "ऊंह, यह मुंह और मसूर की दाल; चले हैं शादी कराने। रेवा की माता जी से बातचीत करने के बाद मनहर के पाँव धरती पर न पड़ते थे। आज उसकी खुशी की न पूछो, रेवा भी आज कुछ विशेष सज-संवर कर उसके आगे-पीछे फिरने लगी, उसे इस तरह देख रही थी जैसे कसाई पले हुये बकरे को जिबह करने से पहले उसे देख कर मुस्कराता है, हंसता है, उसके शरीर पर हाथ फेरता है। वैसे ही रेवा की आंखें मनहर को सिर से पैर तक देख कर मुस्करा उठती थीं, नाच उठती थीं।

इतने में एक बंदरिया नचाने वाला मदारी डुगडुगी बजाता उधर आ निकला यात्रियों के बच्चे भाग कर मदारी के आस पास घेरा बना कर खड़े हो गये। रेवा भी चंचलता से भागती थिरकती हुई वहीं जा पहुँची, उसके पीछे आँचल के साथ-साथ उड़ता हुआ मनहर भी उसके साथ लगकर सा खड़ा हो गया। मदारी बंदरिया नचाने लगा। सभी उसके कौतुक देखने में मस्त थे कि आज पहली बार रेवा उससे बोली,

उसका मन तो जैसे हर की पैड़ी के···पास ही बह रही गंगा की तरंगों से भी अधिक नाच उठा।

'शादी कराओगे ?' मनहर ने समझा, गंगा माई ने वर दिया। वह रेवा के जरा और पास होकर बोला, 'हाँ', और उसका सारा शरीर पुलक से रोमांचित हो गया।

'वह बंदरिया देखी है अच्छी जोडी रहेगी।' इतना कह रेवा तो भाग गई और मनहर थॉ कटके रह गया जैसे हरे-भरे आम के पेड़ पर बिजली गिरे और वह देखते ही देखते ठूंठ हो जाए। उसके लिये यह धक्का असह्य था, उसके बदन में लाखों सुइयाँ एक बार चुभ गईं फिर वह क्या हुआ, कहाँ गया उसे किसी ने न देखा। कोई कहने लगा, साधु हो गया। कोई कहने लगा, गंगा जी की भेंट चढ़ गया। जितने मुंह उतनी बातें। रेवा की माता जी ने एक बार रेवा से पूछा, क्यों बेटी तूने तो कुछ ऐसी बात नहीं कह दी कि गम खा गया हो। बेटी, भोले मन का शाप जीवन जला देता है।

रेवा ने उसी अन्दाज से मुंह बनाया, वह मुंह और मसूर की दाल। और वह हड़बड़ा कर उठ बैठी, उसकी बच्ची रो रही थी, माता जी बंदरिया का नाच मैं भी देखूंगी, और बच्ची उठ भागी।

बाहिर मदारी बंदरिया नचा रहा था। रेवा सोच रही थी मैं भी बंदरिया सी नाच रही हूँ। मनहर को बंदरिया क्या देती खुद ऐसे मदारी के पल्ले पड़ गई जो बंदर भी है और मदारी भी। माता जी सच ही कह रही थीं और वह फिर रो पड़ी, पर अब उसे यह रोना सुहा न सका।

कुरूपता का वरदान

शिवरात्रि के दिन उस छोटे से मन्दिर में बड़ी भीड़ थी—इतनी चहल-पहल शायद इससे पहिले उस मन्दिर में कभी न हुई थी। इस पर भी मन्दिर के बूढ़े पुजारी खुश नहीं थे। झुर्रियों से भरे नंगे बदन पर मोटा सा जनेऊ लटकाए बड़ी व्यग्रता से वे इधर-उधर घूम रहे थे और मुख से घोर कलियुग में होने वाले कुकृत्यों पर वाक्य-बाणों की वर्षा भी करते जाते थे। घोर कलियुग आ गया, अब धर्म नहीं रहा, इन लौंडों को तो देखो कलि के अवतार हैं। धर्मध्वंसक कहीं के! इन छोकरों की इतनी हिम्मत। जाने त्र्यम्बक भगवान अपना त्रिनेत्र क्यों नहीं खोल देते। इसके अतिरिक्त वे बहुत अधिक मन में विचार भी कर रहे थे। विचारों के इस प्रबल तूफान में कब क्या बाहिर आ रहा है यह देखने की उन्हें फुर्सत कहां थी? फिर जो कुछ बाहर निकलता था वह कम ही था, और भीतर का झंझावात अधिक। उनके मनोभावों का आन्दोलन त्योरियों के रूप में मस्तक पर भी उतरता चढ़ता था। आज उनके मन्दिर से ही हरिजनों को देवदर्शन के अधिकार का श्रीगणेश किया जाएगा। अधिकारदाताओं को भी और किसी बड़े आदमी ने अपना मन्दिर नहीं दिया फिर पुजारी जी ही अपने शिवालय के देव को अछूतों के दृष्टिपात से भला क्यों न बचाते? लेकिन उनकी कुछ न चली। घोर कलियुग में भला उनकी कौन सुनता। बिहारियों ने भी जिनका यह मंदिर था बड़ा जोर लगाया लेकिन अस्पृश्यों को शिव चौदश के दिन देवदर्शन तो कराने ही होंगे। युवक दल इसके लिए इतना अधिक बेचैन

दिखाई पड़ता था जैसे सागर की चंचल और तूफानी लहरें। भोले शंकर बाबा भी समुद्र मंथन के विषपान की तरह अन्त्यजों के दर्शन देने के लिये जैसे तैयार हो गए थे। वे तो वैसे ही श्मशानवासी हैं और सब से बेनयाज। जिस तरह अन्य देवता समुद्र से निकले रत्न तो स्वयं हथिया ले गए और विषपान के समय लगे बगलें झांकने तो भोले बाबा आँख मींच विषपान कर गए। और तब से नीलकन्ठ बने। इसी प्रकार अछूतों को दर्शन देने का भार जब किसी अन्य देव मूर्त्ति ने नहीं संभाला तो आड़े में दिगंबर शंकर ही काम आए। फिर हरिजनों के उत्साह की न पूछिए, काले २ पीले २ मटमैले से भंगी, डोम, चमार, पासी, काली २ पीली २ सफेद पोशाकें पहने यूं उमड़े आ रहे थे जैसे सावन भादों की काली पीली आंधियाँ। मन्दिर के साथ ही पिछली ओर एक लम्बी चौड़ी झाड़ियों से हजारों अछूत बैठे थे। मालूम होता था कि हिन्दुस्तान का यह छोटा सा भू भाग अछूतिस्तान बन गया है।

देव दर्शन के पहिले उत्सव का प्रबन्ध किया गया था। नेताओं के व्याख्यान और महिला विद्यालय की कन्याओं के संगीत की व्यवस्था थी। प्रधान महोदय की प्रतीक्षा की जा रही थी और मैं भी मंच पर बैठा प्रतीक्षा करने वालों का दिल बढ़ा रहा था। एकाएक मैंने फर्श पर बैठी हुई हरिजन जनता की ओर विहंगम दृष्टि से देखा। देव दर्शन का अधिकार दिलाने वालों की अपेक्षा दर्शन पाने वालों से मुझे अधिक सहानुभूति थी। चक्र बनाती हुई पेन्सिल की भांति घूमती २ मेरी दृष्टि कोने में बैठे हुए एक चौधरी पर जा अटकी, और फिर वहाँ से हटने का नाम नहीं लिया। मैं बार-बार मना करता हूँ लेकिन मानती ही नहीं। शहद पर की मक्खी की तरह नज़र उलझ-उलझ कर वहीं रह जाती है। किसी घृणित वस्तु को आप न देखना चाहें तो भी आँखें बरबस उधर उठ ही जाती हैं। जाने क्यों? वह कोने वाला चौधरी मानो भंगीपन का प्रतीक हो। दुनिया भर की कुरूपता उसमें ही आ बसी थी। शापद कुरूपता ने उसके शरीर में केन्द्रस्थ होकर अपना

प्रतिनिधित्व करना चाहा हो, काला भोंडा चेहरा, चेचक के बड़े बड़े दागों से और भी भयंकर हो उठा था। एक आँख बहुत छोटी, दूसरी बहुत बड़ी लेकिन फोले के कारण दृष्टि से हीन।

प्रधान के आने से जलसे की कार्यवाही शुरू हो चुकी थी। बड़ी २ तकरीरें हो रही थीं। अछूतों के सुधार के लिये बड़ी बड़ी योजनाएँ उपस्थित की जा रही थीं और हज़ारों अछूतों के कान उन बातों में तृप्त हो रहे थे और उनमें से बहुत से ऐसे भी थे जो अपने भावी जीवन के सुन्दर २ स्वप्न देखने लग पड़े थे। उनके मुंह फैल गए थे और आँखें छोटी होती जाती थीं। लेकिन उस सारे एकत्रित अछूत समाज की उपेक्षा करके मेरी आँख फिर वहीं जा पहुँची और वहीं कोने में दुबक कर बैठा हुआ अत्यन्त कुरूप छुरिसत सा चौधरी। आज मन और आँखों से मैं पराजित हो रहा था, नहीं देखना चाहता, नहीं देखना चाहता, लेकिन क्या करूं? घृणा से मुंह फेर लेता हूं, आँखें बन्द कर लेता हूँ, भजन और व्याख्यानों में उलझकर खो जाना चाहता हूँ लेकिन नज़रें फिर धोखा देकर हेर-फेर कर उसी चौधरी पर जम जाती हैं। वह भी तो कम्बख्त उठने का नाम नहीं लेता। वहीं जम कर बैठा है। जैसे युगों तक वहीं बैठा रहेगा। इसीलिये वह पैदा हुआ है। वहीं बैठा २ कुरूपता का मापदंड बना रहेगा। मैं खीज उठा अपने भाग्य को कोसने लगा, अपने दोष पर भाग्य को कोस लेने से संतोष होता ही है, कि कहां से देव दर्शन का उत्सव देखने आ बैठा।

उधर भंगियों के बड़े चौधरी ने अपनी मांगें पेश कर दीं। मैं वही सुनने लगा। मुझे भी तो उनकी समस्याओं के सम्बन्ध में विचार करना चाहिये, मैं समाज का प्राणी हूँ। हां मन मान गया। उधर चौधरी कह रहा था, हमारे आर्थिक प्रश्नों का हल भी होना ही चाहिये। निरे देव दर्शन से हमारी भूख नहीं मिटती। सच है भूखा पेट आँखों की दृष्टि छीन लेता है। हां, वह चौधरी भी तो भूखा ही होगा और नज़र फिर छोड़े हुए रबड़ की तरह वहीं जा पहुंची। अब

उस चौधरी ने दांत फैलाए हुए थे। कुरूपता नग्न हो रही थी। जाने उस कुरूपता का भयानक उपग्रह मेरे हृदय-गिर्द क्यों छा सा गया। मुझे ऐसा मालूम होने लगा, मैं स्वयं ही एक स्याही से छाया जा रहा हूँ। मेरे अन्दर एक धुआं सा भरा जा रहा है। सारा शरीर भैंस के चमड़े का सा हो गया है और चेहरा मधुमक्खियों से छोड़े हुए कुत्ते की तरह। मुझे उबकाई आने लगी। वहीं भंगी हजारों सूरतों से मानो मेरे चारों तरफ नाचने लगा। अब क्या करूँ? यहां और भी तो हजारों व्यक्ति हैं। मंच पर तो सुन्दर स्वस्थ और उत्तम वर्ण के प्रतिष्ठित पुरुष और महिलाएं हैं। पर उससे क्या होता है। वह एक कुरूप चौधरी सब पर भारी था। द्वेष से भरे हुए बरतन में लहसुन का एक तरी भारी ही तो होती है। क्या यह कुरूपता की विजय नहीं? इससे छुटकारा पाना कठिन ही तो है।

अब नहीं बैठूंगा। चलने को तैयार हुआ ही चाहता था कि प्रधान के वक्तव्य के बाद जलसा जय-जयकार से मुखरित हो उठा और अब अन्त्यज, भोले भंडारी के दर्शन करने चले। उस दृश्य को देखने का लोभ संवरण नहीं कर सका। इसकी पृष्ठ भूमि में कोने वाले उस काने चौधरी को और पास से देखने का लोभ भी न जाने राख के नीचे दबी आग की तरह किस तरह चमक उठा। मन फिर खीज और निरुत्साह से भर गया तो भी पांव वहीं जम रहे।

ज्यों-ज्यों अछूत मन्दिर की दहलीज के पास आने को थे बूढ़े पुजारी का चेहरा फैलने और सिकुड़ने लगा। उसकी आंखें कपाल पर चढ़ फट कर गिरना ही चाहती थीं कि खन खन खन श्रद्धा और भक्ति से नतमस्तक हो रहे हरिजनों ने 'हर हर महादेव' करते हुए अपने सब मन के साथ अपने श्रम से अर्जित धन में से भी कुछ अर्पण करना शुरू किया। भोले महादेव निस्पृह भाव से बैठे रहे। उनके लिये भक्त-भक्त में भेद नहीं। पूजा की विधि का भी ध्यान नहीं। वहां तो भावना ही मूल्य रखती है। लेकिन बूढ़े पुजारी ने सिर पर हाथ फेरा और उसके

झुर्रीदार चेहरे पर मुस्कराहट दौड़ गई, जैसे बुढ़ापे को जवानी की मीठी याद आ जाए। बस अब पुजारी जी एक-एक खन के बदले दस-दस आशीर्वाद देने लगे। एक पैसे में दस आशीर्वाद सस्ते ही थे। लेकिन पुजारी जी जान कर भूल गए कि उनके आशीर्वाद यदि सचमुच फलीभूत हुए तो इन हरिजनों के मारे उनके नाक में दम आ जाएगा। लेकिन यह बात उस वक्त वे भला कैसे सोच सकते थे, क्योंकि बिहारियों के मन्दिर की सेवा करते-करते २० वर्ष बिताने पर भी उन्होंने शिवालय में इतने पैसे चढ़ते नहीं देखे थे। शिवालय के पाषाण निर्मित देव तो इससे किंचित नहीं हिले। पर पुजारी यदि मुलायम पैसे देख कर फिसल गए तो इसमें आश्चर्य की कौन बात। फिर वे बूढ़े भी थे।

अरे वह कोने वाला चौधरी बहुत समीप आ गया। मेरी धमनियों का रक्त सूख गया। जब वह मेरे पास से होकर देव मन्दिर की ओर बढ़ा तो मैंने घबराकर आँख बंद करली। मानो कोई बच्चा कड़वी दवाई पीने चला हो। भोले महादेव फिर भी निर्विकार ही पड़े थे। उनके भाई ब्रह्मा ने ही तो इसे भी रचा। रचयिता प्रजापति शायद कुरूपता गढ़ने में भी बाजी मारना चाहते थे। फिर भोले शंकर अपने भाई की कृति पर कैसे आपत्ति करते? परन्तु मुझे इस से क्या? मेरा इससे क्या मेल? लोग कहते हैं आत्मा सबकी एक ही है। क्या इस कुविग्रह में भी हमारी सी ही आत्मा है? मुझे इसमें सन्देह हुआ। उधर चौधरी ने बड़े प्रेम से शंकर जी को प्रणाम किया और चला गया। मेरी जान में जान आई।

जलसा खत्म हुआ। हरिजनों ने देव दर्शन पाया। हिन्दु जाति ने अपना पाप धोया। लोगों ने कीर्ति अर्जित की। बिहारियों को मनो ताप हुआ। पुजारी जी ने पैसे पाए और भगवान के भक्तों में वृद्धि हुई। लेकिन मुझे क्या मिला? मेरे दिमाग ने एक छाया प्राप्त की। वह छाया जो कभी २ अब भी मेरे मस्तिष्क में व्याप्त हो मुझे डरा देती है। वह वही कोने वाला बिनौना चौधरी। वह तो मेरे दिमाग

में बस इस तरह चिपट गया है जैसे शीशे पर बाल।

एक दिन दुकान से घर लौटा तो पत्नी कुछ प्रसन्न जान पड़ी। वह स्वभाव से कुछ अधिक खुश थी। विवाह के दो तीन वर्ष बाद आज ही उसे इतना प्रसन्न देखा है। उसकी प्रसन्नता का कारण ढूंढे भी न मिल सका। बहुत इधर-उधर करने के बाद इशारों से उसने बताया कि वह अपने नारीत्व को सफल बनाने वाला है। जाने मेरे मन में यह कैसे आ गया कि वह पुत्र ही प्रसव करेगी। फिर मैंने पुराने पन्ने उलटने शुरू किये। वही अछूतों का जलसा, बिहारियों का मन्दिर, वह कोने वाला अछूत। हां, वही तो दिन था, वही। इतना विचार आते ही फिर कोने वाला काना कुरूप चौधरी विचारों पर छा गया। मैं अपने विचार की भीषणता से आप ही सिहर उठा। मैं अपने लिये ऐसे अमंगल की बात क्यों सोचूं? मेरा बेटा, और वह चौधरी--नहीं नहीं, ऐसा नहीं, कभी नहीं, ऐसा नहीं होगा। लेकिन फिर वही चौधरी वही उसकी आकृति। मैंने चाहा अपने सिर में कील ठोक कर इस विचार का रस्ता बंद कर दूं। लेकिन मानसिक विज्ञान विशारद तो था नहीं कैसे जानता कि विचार प्रवेश का मार्ग कहां है कौन सा है।

बीवी मेरी चुप्पी से घबराकर अनमनी सी और उदास हो गई। शायद मर्द ऐसी खबर का यों ही स्वागत करते हों। लेकिन वह क्या जानती थी कि अपने को फिर बालक के रूप में देख कर कौन प्रसन्न न होगा। पर उस दिन वाली कोने में बैठी भयानक मूर्ति ने अपनी उग्रता यहां भी न छोड़ी। कहीं मैं पागल तो नहीं हो रहा.....

६ महीनों में मैं मुश्किल से ६ बार भी होने वाले बच्चे की सूरत का ख्याल न छोड़ सका। जब भी उसके सुन्दर रूप की कल्पना करता चौधरी का रूप साथ २ रहता। उजाले और अंधेरे में एक अति क्षीण रेखा का अन्तर भी शायद ही होता है। ज्ञान और अज्ञान पास २ ही खेलते हैं। मैं अपनी विचारधारा से काफी युद्ध किया लेकिन उग्रता

को मनोहरता से दूर न करा सका।

शान्ति मेरी छोटी बहिन दौड़कर आई, भैया कुछ मुंह मीठा हो जाए "क्यों ?" मेरा मन प्रसन्नता से फूल उठा। मुन्ना हुआ है, भैया। कैसा है, मैंने एकाएक पूछा। शान्ति कुछ चुप हो रही। उसे शरारत सूझी, बोली, मिठाई तो खाऊंगी पर भर पेट नहीं। क्यों ? मैंने पूछा। कहने लगी, मुन्ना बिल्कुल कुरूप है काला सा। हाय री तकदीर, मेरी सारी खुशी काफूर हो गई, मैं पागलों की तरह दौड़कर अन्दर चला गया। स्त्रियां रोकती ही रह गईं। कपड़ा उठाते ही देखा, नवजात शिशु अपने बचपन सा ही भोला और सुन्दर था।

मैंने संतोष की सांस ली, कुरूपता ने सौंदर्य को अक्षुण्ण रखा। चौधरी शाप नहीं वरदान ही सिद्ध हुआ।

कला की वेदी पर

मेल गाड़ी फर्राटे भरती हुई स्टेशन पर स्टेशन छोड़ती उड़ी चली जा रही थी, कुछ उसी तेज़ी से पुरानी स्मृतियाँ और विस्मृत घटनाएं मस्तिष्क में घूम रही थीं। आज १२ वर्ष बाद मैं उस नगर की ओर बढ़ा चला जा रहा था जहां मेरा बचपन बीता था, जहां मेरी शिक्षा-दीक्षा हुई थी। बारह वर्ष का समय। समय की यह इतनी बड़ी दीवार क्षणों में ही टूट गई और अतीत ही जैसे वर्तमान बन गया, वहीं आकर खड़ा हो गया, और गाड़ी चली जा रही थी।

बचपन के साथी, स्कूल के सहपाठी याद आ रहे थे तो पुरानी शरारतें भी सामने आकर गुदगुदा जातीं थीं, वे पुराने गली-कूचे जहां उठती जवानी के दिन गुज़ारे थे, पीछे न रहे। यों लगता था जैसे उस नगर के कण-कण से मुझे स्नेह था, मैं एक दिन के लिए भी वहां से नहीं गया, वह नगर अपने पुराने ज़माने में ही बस रहा होगा, उसे मैं वैसे का वैसा ही देखूंगा, उस समय कल्पना सत्य पर सवार हो रही थी, भावना तथ्य को अपने में लपेटे जा रही थी, और मुझे याद आ रही थी कामिनी। सब ओर से हट कर मन कामिनी के इर्द-गिर्द ही चक्कर काटने लगा, जैसे मेरी स्मृतियों की मंज़िल वही हो, और गाड़ी ने एक और स्टेशन छोड़ा, और अपनी ही नहीं मेरी मंज़िल की ओर भी बढ़ी।

मेरे मौसा मिज़ाज के बड़े तीखे थे, बात-बात पर झिड़कते और कभी-कभी योंही पीट भी देते थे, उन्हें देख कर ही दिल सहम जाता

था। उन्हीं के पास रह कर मैं पढ़ता भी था। मौसी का प्यार सहज अकपट स्नेह और दुलार भूलने की वस्तु नहीं, उनकी छत्रछाया में रह कर भी मन उदास रहता था, मौसा की बेरुखी मौसी के दुलार को फीका कर देती थी, तब मुझे घर याद आता, मां-बाप याद आते, जिन्होंने मुझे यहां छोड़ रखा था, वे भी मजबूर थे, गांव में शिक्षा का कोई प्रबन्ध न था।

कामिनी बे मां की बेटी थी परन्तु उसके पिता इस अभाव को अनुभव न होने देते थे, परन्तु मां का अभाव किसी न किसी रूप में अपना आभास देता ही रहता है। मैं, माता-पिता दोनों से दूर रह कर इस अभाव को तीक्ष्णता से अनुभव करता था, इसीलिए शायद बचपन में हम दोनों एक दूसरे के इतने निकट हो आए थे।

मुझे याद आया, दीवाली के दिन बाज़ार में मिठाई की सजी दुकानें, रंग-बिरंगे खिलौनों और बाज़ार की चहल-पहल देखते-देखते देर हो गई, घर आया तो मौसा ने खूब पीटा, घर से निकल जाने की धमकी भी दी। मैं क्या करता, खड़ा रोता रहा, कामिनी ने साथ लगते अपके मकान की छत से देखा तो उसकी आँखें छलछला उठीं, वह झट नीचे उतरी और मुझे खींच कर अपने घर ले गई। मेरे आँसू पोंछे और मीठी-मीठी बातों से मुझे धीरज दिलासा देने लगी, जैसे वह मेरी छोटी सी मां हो, रोते-रोते थक जाने पर भी कामिनी की बातों ने मुझे और भी रुला दिया, परन्तु इन नए आंसुओं ने मुझे हल्का कर दिया, मैं ऊंघने लगा, कामिनी ने मधुर स्वर में गाना आरम्भ किया, उसके गले में वह जादू था जो पत्थर को भी मोम कर दे, ऐसी ही मिठास भरी लोरी से मुझे नींद आने लगी मुझे सचमुच नींद आ रही थी, कल्पना ने सत्य का सृजन किया। नींद में मुझे झटका लगा, पास बैठा यात्री घबराया, होश कीजिये भाई साहिब, मैं चौंका और सावधान हो गया। गाड़ी चली जा रही थी, और मस्तिष्क ने फिर याद का सूत्र पकड़ लिया।

कामिनी ऐसी बहुत रूपवती तो न थी परन्तु उसके कंठ में कमनीयता थी, मधु, सी मिठास, मलाई सी मादकता। बचपने से ही उसे गाने का शौक था प्रकृति ने रूप की कमी कंठ की मधुरता में पूरी कर दी थी। ज्यों-ज्यों वह बड़ी होती गई संगीत की ओर उसका झुकाव बढ़ता गया। पिता नए व पुराने युग के संगम के से थे। दिमाग नए युग का साथ देकर आगे बढ़ना चाहता था और दिल पुराने की ओर पीछे धकेल देता था। उन्होंने कामिनी को पढ़ाना लिखाना तो ज़रूरी समझा परन्तु गाना-बाना सिखाने के पक्ष में न थे। नगर की कन्या, पाठशाला में वह पढ़ती थी, इसलिए स्कूल की मीटिंग हो वार्षिक उत्सव हो, कामिनी से भजन गवाये जाते। पिता के लाख रोकने पर भी स्कूल वालों ने अपनी ओर से उसे गाना सिखलाया ही, बुद्धि उसकी तीक्ष्ण थी, गले में स्वाभाविक लोच, परिश्रम करने में जैसे उसे स्वर्गिक सुख मिलता हो। धीरे धीरे कामिनी के स्वरों की गूंज आस-पास ही नहीं दूर-दूर तक फैल गई, चंदन की मादक सुगन्ध की तरह। और वह सभा-सुसाइटियों के उत्सवों में जाकर गाती, लोग मंत्र-मुग्ध होते, उस पर नशा सा छा जाता। इस तरह संगीत उसके मन प्राणों पर छाता गया और वह संगीतमय होती गयी।

धीरे-धीरे कामिनी की समस्त वृत्तियां संगीत से ही रस लेकर उर्वरा होने लगीं, जीवन के विभिन्न सुखों का रस उसे अपनी संगीत साधना से ही मिल जाता था, वह तो संगीत प्रेम योगिनी हो चली थी। इस बात को जाने उसके अनुभवी पिता क्यों न समझ सके या फिर ऐसे समाज में रहने के कारण जिसमें बात-बात पर नाक कटती हो, बिना ब्याही लड़की की वे कल्पना ही न कर सके थे, इसलिए उन्होंने अच्छा घर-वर देख कर कामिनी का ब्याह कर दिया। निमंत्रण ब्याह का मुझे भी आया था परन्तु जीवन की उलझनों में ऐसा फंसा कि जा ही न सका। इसके बाद वर्षों बीत गए और आज सबके साथ पर सबसे अधिक कामिनी ही जैसे अपने संगीत के साथ नाचती-

थिरकती स्मृति-पटल पर घूम रही थी।

गाड़ी रुक गई, स्टेशन आ गया, और मैं उतर पड़ा। भावुक प्राणी प्लेटफार्म की मिट्टी उठाकर मस्तक पर लगाई, एक उद्दाम सी खुशी मेरे हृदय को उद्वेलित कर रही थी, इस धरती पर पांव रखते ही अन्तर में सोया शैशव विह्वल हो उठा, जी चाहा भागूं-दौड़ूं, अपने साथियों को पुकारूं, लेकिन नगर में पहुँचते ही सारा नशा हिरन हो गया, उत्साह मंद पड़ गया, शहर के ईंट पत्थर तक जिनसे घुल मिल कर बातें किया करता था बदल गए थे, पहचानते ही न थे, इन्सान की तो बात ही क्या है। मैं भरे पूरे नगर में यों चला जा रहा था जैसे वियाबान में अकेला फिर रहा हूं, कहां गये वे छोटे २ बच्चे लड़के-लड़कियां, गली-मुहल्ले वाले जो मुझे देखते ही कह उठते, गोपाल भैया, हमारे लिए बाज़ार से कपड़ा ला दो, अच्छी आज गेंद-बल्ला खेलेंगे, नहीं गोपाल भैया हमारे लिए झूला डाल दो, नहीं रमा गोपाल भैया तो हमारी गुड़िया के ब्याह में पुरोहित बनेंगे, और आ जाती भागती हुई कामिनी, गोपाल भैया सबसे ले आओ हमारी बैठक में आज संगीत सम्मेलन करेंगे। सभी ओर से निराश मन, यह स्वीकार न करना चाहता था कि कामिनी भी सब की तरह बड़ कर यों बड़ी हो गई होगी पर वह भी कहां मिलेगी, वह तो ससुराल में होगी, मन खीज ही तो उठा, आदमी बड़ा क्यों होता है, बच्चा क्यों नहीं रहता, लोग ससुराल क्यों जाते हैं?

"हां लोग ससुराल क्यों जाते हैं, मैं नहीं जाऊंगी ससुराल कर लो क्या करते हो।

एक अधेड़ उम्र की औरत बच्चों से उलझ रही थी, बच्चे कह रहे थे, कामिनी ससुराल न जाओगी? वह चिढ़ जाती, तुम जाओ ससुराल, तुम्हारी माँ बहिन जाएं, मैं क्यों जाऊं?

अच्छा कामिनी दीदी, एक गीत तो सुना दो।

"एक नहीं दस और कामिनी ने गाना शुरू कर दिया, एक एक

कर सब बच्चे वहां से उठ गए, कामिनी जाने किसे सुनाती हुई गाती रही।

मेरा दिल रो उठा, उस समय की मन और मस्तिष्क की गति-विधि को व्यक्त करने की शक्ति नहीं, कलेजा कड़ा कर मैं उसके सामने जा खड़ा हुआ, वह फटी-फटी निगाहों से मेरी ओर देखती रही, फिर हंस दी, गोपाल, देखो मैं ससुराल न जाऊंगी, मेरी तो संगीत से शादी हुई है, अब वह भी मुझे छोड़ चला है, इतना कह कर जैसे डर कर भाग गई।

जिस उद्देश्य से मैं इस नगर में गया उसे पूरा करना भी भूल गया, वहीं से स्टेशन की राह ली और जो भी गाड़ी मिली उसमें चढ़ गया, गाड़ी फिर भागने लगी और मेरा मन कामिनी के विगत अन्धकार-मय जीवन में हाथ-पांव मारने लगा।

कामिनी दुल्हिन बनकर ससुराल गई, सास-ससुर ने बड़ी खुशी मनाई, परन्तु उसका दम घुटने लगा। ससुराल्य की पाबंदियां, पल-पल में घूंघट काढ़ो, घूंघट हटाओ, यहां न बैठो, वहां न बैठो कहीं जरा कुछ गुनगुना दिया तो झट आवाज आई, बहू यह कुल वधुओं के लक्षण नहीं, यहां चाम नहीं काम प्यारा है। यह गाना बजाना तो गृहस्थों का काम नहीं। रहे पतिदेव, वे काफी पढ़े लिखे थे, परन्तु नीरस, भावना शून्य, वे तो शायद मां-बाप के लिए बहू ब्याह लाए थे और बस। कामिनी को जब यह जीवन असह्य हो जाता तो पिता के पास आ जाती और महीनों जाने का नाम न लेती। यहाँ वह आजाद बुलबुल की तरह फिरती, गाती बजाती, सभा में उत्सव में आती-जाती। ससुराल वालों को यह सब फूटी आँख न भाता। अन्त में बात बढ़ गई, और जब यह समाचार आने लगे कि ससुराल वाले लड़के का दूसरा विवाह करने वाले हैं तो कामिनी के पिता ने सिर पीट लिया, वे स्वयं लड़के को समझाने गये। कामिनी पर इसका कुछ भी प्रभाव न था, वह अपने गान में मग्न रहती।

उस दिन कामिनी को पिता के साथ पतिगृह में जाना था, सब तैयारी पूरी हो चुकी थी, परन्तु जाने क्यों एक उत्सव में जाने का मोह वह न टाल सकी। उस दिन उसने इतनी मादकता और मधुरता से गाया कि सुनने वाले कह उठे, यह संगीत तो जैसे सुर बालाओं का सा है। परन्तु दुनिया को खुश करके भी कामिनी उसे खुश न कर सकी जो उसका सर्वस्व था, जिस एक के प्रसन्न होने में ही सब की प्रसन्नता निहीत थी। एक दिन देर से पहुँचने के कारण ससुराल वालों ने उसे स्वीकार नहीं किया, पिता के साथ ही वह वापिस लौटी, इसी दुःख में पिता ने चारपाई पकड़ ली, लोग वाह उसके गाने से तो खुश थे, परन्तु पीहर में रहने वाली लड़की को सहन न कर सकते थे। बड़ी बूढ़ियाँ युवतियाँ और बच्चियाँ जो भी आती यही पूछती, कामिनी ससुराल कब जाओगी, उसके पिता के पास जो भी आता यही कहता, बाबू जी लड़की ससुराल न जाएगी, यही सुनते सुनते कामिनी के पिता स्वर्ग सिधारे और यही सुनते-सुनते कामिनी वह कुछ हो गई जो मैं उसे देख आया था, गाड़ी भागी चली जा रही थी और मेरा मस्तिष्क कह रहा था, कामिनी तू धन्य है, तू कला की सच्ची पुजारिन है, संगीत पर तूने जीवन न्यौछावर कर दिया, जीवन लुटा कर भी अपनी और अपनी कला की लाज रख ली, उसी समय दिल बोल उठता था, नहीं कामिनी तुझे अपनी समस्त कामनाओं और और भावनाओं को भस्मसात् करके एक मात्र अपने पति को प्रसन्न करना था।

तब क्या होता। पति परायण सती कामिनी इन्हीं मधुर नामों और उपाधियों से विभूषित करके पुरुष ने नारी को ठगा है, अब तक ठगता आ रहा है, उसकी समस्त प्रवृत्तियों और भावनाओं को अपने स्वार्थ के लिए कुचलता हुआ। जीवन भर के दुःख और परिताप के मोल मिलता क्या, यही नाम, पर अब भी क्या मिला इस तरह नहीं तो दूसरी तरह सही, नारी तो ठगी ही गई, कामिनी के पहले तो

परिताप और दुःख ही रहना था, परन्तु यह आजादी का दुःख है वह बंधन का सुख होता, दोनों में कौन सी बात सच और स्थाई है इसी उलझन में मन और मस्तिष्क उलझ रहे थे और गाड़ी अपने सपाट सीधे रास्ते पर चली जा रही थी।

सुहाग के कंगन

अपना नाम शुरू से लेकर अब तक 'रक्खी' ही सुना है—और आगे को भी जितना थोड़ा बहुत जिऊंगी रक्खी ही रहेगा—इसके बदलने की कोई सम्भावना नहीं। अब तक की जिन्दगी में बहुत से परिवर्तन आए, बहुतों ने बहुत कुछ बदल डाला लेकिन ऐसा कोई न आया जो इस नाम को बदल देता, जिस दिन औरतों का दूसरा नाम रक्खा जाता है उस दिन भी दुर्भाग्य से मेरा यही नाम पसंद किया गया। तब क्या वश! इस छोटे से आधे से नाम को लेकर ही जी रही हूँ। इससे लोग पहचान जाते हैं और मैं समझ पाती हूँ कि कोई मुझे पुकार रहा है और इससे गुजारा भी चल जाता है। और फिर भी दिल को तसल्ली नहीं, इतने से मुझे सन्तोष नहीं—मैं चाहती हूं मेरा नाम कुछ बहुत आकर्षक हो—कवित्वमय, मधुर सा, लेकिन सरल। मैं इतनी सुन्दर न सही, नाम से तो मालूम होता है कि बहुत अजीब सी चीज़ हूँ—किसी के दिल में नाम सुनकर ही खलबली सी मच जाती। लेकिन जाने दो इन सब बातों को। नाम मेरा रक्खी। अब आप पूछेंगे राम रक्खी हूं, अलला रक्खी, श्याम रक्खी, क्या? कुछ तो साथ होगा ही? साथ क्या था—यह तो अब भी नहीं जानती फिर भी न जान सकूंगी। हिन्दू होने से राम रक्खी हो सकती हूँ लेकिन मेरे वे, जिनका नाम लेना हमारे लिये गुनाह है और जिनके चरणों में अपना सब कुछ रखकर निहाल हो पाती—उन्होंने अपनी छोटी जिन्दगी में एक आध बार बड़े प्यार भरे लहजे में कहा था—'रानी? तू सिर्फ

रक्खी नहीं-मेरी पत रक्खी है, काश। वह मुझे इस नाम से बार-बार पुकारने के लिए बहुत दिनों तक जीते रहते उनकी पत मैं रखती और वे पत्नी की पत रखते क्योंकि 'पति के बिना पत नहीं'—अतः मैं भी केवल रक्खी की रक्खी ही रह गई। मेरी पत उड़ गई नाम को पूरा करने की मेरी चाह.....इसकी इतनी सी कैफियत सो ठीक है।

यहीं तक बात रहती तो जंच जाती। अपने माँ बाप के ही जो यह नाम रखने के सबसे अधिक जिम्मेदार हैं, मैंने न अच्छी तरह देखा और न उनके प्यार को पा सकी। जिनके हाथों पली पोसी वह मां-बाप से बढ़ कर थे लेकिन माँ-बाप नहीं—फिर सोचती हूं 'रक्खी' का रखा न कर वे मुझे किसके हाथों सौंप गए—अपने भाई को, इतनी प्यारी होती तो साथ ही न ले जाते-और चाचा ने जिनके हाथों सौंप दिया उनका क्या कहूं-उनके प्यार की, त्याग की कहानी कहने बैठूं तो आप उकता के कहेंगे—बस? लेकिन चूंकि मेरी 'राम कहानी' न सुन कर भी आप सुनना ही चाहेंगे। शायद बस भी न कह सकें—तो भी सुनना न सुनना कह कर आप को परीक्षा में डालने का मेरा विचार नहीं न आप के सन्तोष को आजमाऊंगी—इससे मुझे क्या लाभ? जो कहने की है वही थोड़े में कह दूंगी——

सुसराल जाने की यह मेरी चौथी बारी थी—विवाह के बाद लड़की को सुसराल में बहुत देर नहीं रहने दिया जाता—दो-चार बार बहुत जल्दी २ इधर-उधर कभी सुसराल और कभी पीहर घुमाया फिराया जाता है - ताकि लड़की बहुत उदास न हो जाए इसी सम्बन्ध में मेरा यह चौथा फेरा था। मैं बड़ी प्रसन्न थी—और मेरे वे? उनकी प्रसन्नता का क्या ठिकाना। जाने संसार की खुशी उनके ही दिल में आ छिपी हो और काफी जगह न पाकर बाहिर फूट पड़ी हो। और बस खुशी को वे मेरे इर्द-गिर्द भी बखेरते जा रहे थे। फिर मेरी

मस्ती का वह आलम था कि जो कहे सो जाने। छोटी लाइन के इन्टर क्लास के डिब्बे में हम दोनों ही थे। तीसरे किसी ने आने की जुर्रत न की। शायद ज़रूरत भी न समझी। डिब्बा अपने आप ही रिजर्व सा हो गया।

वे मेरे साथ ही सीट पर सटे से बैठे थे। गाड़ी फर्राटे मारती जा रही थी और हमारे दिल गाड़ी की तेज रफ्तार से बाजी लगाते दो हवाई जहाजों की तरह उसके ऊपर ऊपर ही उड़े चले जा रहे थे। आँखों २ में हम बहुत कुछ एक दूसरे को पढ़ रहे थे। ताने थे उलाहने थे, प्यार था, खुमार था, साध थी, मस्ती थी और बहुत सा वह था जिसे न कलम लिख सके और न ज़बान कह सके, दिल जान ले तो भले ही—

मैं खिड़की के पास एक बाजू बाहिर की ओर लटकाए बैठी थी कि एकाएक मेरी कलाई पर किसी का हाथ पड़ा और मेरा कंगन किसी दूसरे के हाथ में था और वह दूसरा भी उसे थाम न सका। कंगन नीचे गिर गया मैंने जोर से चीख मारी और मेरे मुंह से 'कंगन' सुनकर उन्होंने बाहर झाँका तो कंगन ठीक लाइन के पास कुछ इस तरह पड़ा था जैसे किसी भक्त के भगवान की अचल मूर्ति, उस कंगन के छोटे-छोटे शीशों में भी उनकी बहुत छोटी सी तस्वीर जड़ी थी—माला के बड़े मनकों की तरह—कंगन उस तस्वीर का शृंगार था। इसलिये जामें में न समाता था। और हाथ में आकर तो हिलता ही रहता और हाथ में अपनी अमूल्य निधि को देख कर दिल उसे पकड़ने दौड़ता तो हाथ स्वयं दिल को दिलासा देने पहुँच कर आत्मिभाव दरसाता। लेकिन जीत तो हाथ को थी। दिल मन मसोस रह जाता। हाँ तो कंगन मुझे बहुत प्यारा था, उन्होंने आव देखा न ताव, झट गाड़ी से छलांग ही तो लगादी—मैं घबरा गई, प्राण आँखों में समा गए—एक हाथ दौड़कर जंजीर की तरफ गया—दूसरा उनको पकड़ने—लेकिन जंजीर वाला हाथ काम कर गया था—उन वाला दायाँ हाथ खुला ही

रह गया और वे धम से औंधे मुंह नीचे गिर पड़े। गाड़ी रुक गई—एक आदमी साथ के डिब्बे में से उतर भागा। लोगों ने शोर मचा कर पीछा करना चाहा लेकिन वह, यह जा, वह जा नौ दो ग्यारह हो गया—लेकिन मुझे यह सब जानने को फुर्सत कहाँ थी—कंगन इनके हाथ में था और वे बेसुध पड़े थे—सिर पर चोट लगी थी—देवता के हाथ में उसकी ही मूर्ति थी—मूर्ति को पा कर वह अपना आप खो चुका था—और मैं अपने हाथों ही लुट रही थी!

गाड़ी चली जा रही थी अपनी मंजिल की तरफ—और मेरा सुहाग चला जा रहा था विनाश की ओर! मेरी तकदीर बदनसीबी की तरफ भाग रही थी—हमारे घर का स्टेशन करीब हो आ कि वे बोले—इच्छा थी कि घर पहुँच पाता लेकिन किस्मत को यह भी मंजूर नहीं—देखो जी न छोटा करना—मैं तो तुम्हारे हाथ में ही हूँ—देखना यह कंगन उतार न देना...यह कंगन.....कं.....ग.....न ...अच्छा ... ...बस इतना कह जाने वे कहाँ चले गये—हवा का एक झोंका आया और मेरा सुहाग लूट कर चल दिया—मेरे माथे की लाल बिन्दी फीकी पड़ गई—मेरी लाल चूड़ियाँ मानो चीत्कार कर उठीं—क्षितिज पर लाली थी और आकाश में सूर्य अस्त हुए जा रहे थे—इधर मेरे सुहाग का सूर्य भी। मेरे सुहाग की बिंदी को मुंह पर मल कर ही जैसे संध्या मेरी हंसी उड़ा रही हो। इसके बाद की बातें क्या कहूँ-हुआ वही जो हुआ करता है। रोना-धोना चीख-पुकार माँ का बेटा गया—बहिन का भाई, हमजोलियों का साथी और मेरा? मेरा सब कुछ। माँ कहती, डायन है, मेरे बेटे को खा गई—बहिन ने भी खूब जली-कटी कहनी शुरू की, गली मुहल्ले वाले भी अभागिन कहते, सब कुछ सुनती सहती पर कुछ न कहती, कुछ कहना आग में घी डालने के समान था, ज्यों-त्यों दिन निकालने लगे—ढेरों उदासी हमारे घर आँगन में फैल गई। जैसे काले बादलों ने आसमान को ढक लिया, खुशी जैसे कर के और कोसों दूर भाग गई। खाना, पीना, पहनना सब पर पानी फिर

गया। जीवन के प्रभात में ही उदास सन्ध्या का आभास हुआ, भरी जवानी न जाने कहाँ चली गई—दिल मर गया और शरीर ने उसका साथ दिया, यदि मुझे उस वक्त कोई देखता तो यह अनुमान भी न कर सकता कि मेरा १८ वाँ उन्नीसवाँ साल जा रहा है।

माथे का सिंदूर और कलाई की चूड़ियाँ तो मैंने उसी दम उतार फेंकी थी, शृंगार की दूसरी चीजों को भी मरे साँप की तरह दूर फेंक दिया, पर कंगन को नहीं उतार सकी, इस कंगन की खातिर लाख-लाख बातें सुनी, माता-पिता, भाई-बहिन, सास-ननद सब ने ताने से जिगर को छलनी कर दिया, लेकिन वह कंगन, मेरी जान का दुश्मन कंगन, उसी के सहारे तो अब जीवन टिका था, उसे कैसे उतारती। लोगों ने कंगन न उतारने के कई अर्थ निकाले, तो भी उनकी तस्वीर जड़ा कंगन अब तक मेरी कलाई में है। मैं अपने उजड़े हुए सुहाग को भी स्थिर समझती हूँ।

बहुत दिन गुजर गए, आंसुओं की बाढ़ आई और बह गई; और अब तो आँखों में पानी नहीं रहा, इस पानी को आँखों में रखती तो उसी में डूब कर मर सकती थी, लेकिन जो नहीं रुक सका, उसका पीछा कहाँ तक करती, बरसाती बाढ़ के बाद नदी अपने स्वाभाविक वेग पर आ जाती है, कोई नितान्त सूख जाती है, किसी में थोड़ा जल शेष रह जाता है। मैं सूखी तो नहीं पर जल भी अधिक गहरा न रहा, अब मुझे दुनियाँ दिखाई दी। दुनियाँ के सुख-दुःख का ज्ञान हुआ, बादल फट गए थे करारी धूप कुछ अच्छी लगी फिर खुशी भी जवानी और उसका आच्छन्न आनन्द याद आने लगा, लेकिन मन की बात किससे कहती, न कोई संगीत कोई साथी।

मेरे लिए कुछ दर्द था या कुछ करुणा थी तो सिर्फ ससुर जी के मन में, वे तरह तरह से मेरी उदासी दूर करने के यत्न में रहते, उनकी इच्छा थी कि मैं कुछ पढ़ना लिखना सीख जाऊं तो धार्मिक ग्रंथों में ही मन लगे, ससुर जी बहुत तंग खयाल नहीं हैं, उन्होंने रमेश बाबू

को इस काम के लिए नियुक्त किया। रमेश उनके गहरे मित्र थे, उनके रहते कभी २ आया करते थे। उनके मुंह से मैंने रमेश बाबू की बातें सुनी है, बैठक में बैठे २ उनकी हंसी की आवाज कभी २ कान में पड़ जाया करती थी, अब रमेश पढ़ाने आने लगे, पहले तो मैं बहुत संकोच करती, पर धीरे धीरे वह दूर हट गया, रमेश पढ़ाते थे, मैं पढ़ती थी, रमेश बड़े सरल हँसमुख, पढ़ाने के साथ २ मेरी दीन दशा पर बहुत दुःख मानते। और जिस प्रकार पढ़ाने के बजाय मेरी दीन दशा पर उनकी दृष्टि अधिक केन्द्रित रहती वैसे विद्या अध्ययन से हटकर मेरी निगाह बार २ उनके चेहरे पर जा पड़ती और सावन के बादलों की तरह मेरे आसपास वह छाए से रहते। मुझे उनसे बातें करने में अद्भुत रस आने पड़ता, मेरी खोई हुई जवानी फिर से अंगड़ाइयाँ तोड़ने लगी, जैसे कोई शांत जल में पत्थर फेंक दे। धीरे २ हम दोनों एक दूसरे के बहुत समीप पहुँच गए।

उमंगें उठीं, पर अभी संयम का बांध न टूटा था, लेकिन तड़प कम न थी, आग दोनों ओर बराबर लग चुकी थी। पहले किसी की जुदाई तड़पा रही थी अब किसी दूसरे की लालसा तड़पा रही थी दोनों में कितना अन्तर है। रमेश अब खूब बन संवर कर आते। मेरी हालत भी ठीक वैसी न थी, प्रेम छिपने वाली चीज नहीं, मुंह से भले कुछ न कहो आंख स्वयं बता देती है, घर वाले भी चौकन्ने हो गये और घर के माल की अधिक कड़ी निगाह से निगरानी करके लगे, जो हमें आखरी, जब माल स्वयं लुटने को तैयार हो जाए तो घरवाले क्या करें? चोर भले डरे, माल स्वयं बोल कर भाग बता देता है। इलाज एक ही था—शादी। रमेश क्यों न तैयार होता? पर इससे मुझे कुछ खटका सी होती थी, कसक सी चुभ जाती, पर इस कसक की वेदना की उस प्रेम आवाहन के आगे भला कहाँ चलती। आखिर मैंने भी स्वीकृति दे दी, रमेश नाच उठा मस्त मयूर की तरह। और मेरा मन क्या कहीं पीछे था? नाचने लगी तो घूंघट क्यों?

मैं तो चुप थी, पर रमेश ने हमारे भावी विवाह की चर्चा सब जगह फैला दी, घर भर में हुल्लड़ सा मच गया, कोई मुझे कोसता कोई कलमुंही, कलंकिनी और जाने क्या २ कुछ कहता। पर मैं किसकी सुनती, अपनी धुन में मस्त सुख-स्वप्नों में डोल रही, उनकी बातों पर कान क्यों देती। दूसरे दिन हमारा विवाह था, अतः सब तैयारी करके मैं रात को सो गई, बहुत तड़के मुझे उठना था, तो भी नींद जाने कहां भाग गई थी। आज तो सब दुःखों का अन्त होने वाला है, मन में हुलास है, शायद प्रसन्नता में भी नींद न आती होगी। पर ठीक यह बात न थी, कहीं कुछ खाली-खाली सा मालूम होता था, न जाने कहां क्या करी थी, पर सब तरफ से मुंह मोड़ सोने लगी—बहुत नहीं सोई थी कि मैं घबराकर उठ बैठी। यह सपना था अथवा सत्य? मैंने देखा, वे मेरे सामने खड़े हैं, बड़े उदास से, रूखे बाल, सूखा सा चेहरा धसी, आंखें, कहने लगे, 'रक्खी' देख तो तेरे कंगन पर मैल जम गई तेरे कंगन पर, और तुझे ध्यान भी नहीं। मेरा कंगन मुझे देदो, दे दो न उनकी आंखोंमें आंसू थे, मेरा दिल बैठ गया मैं चीख मारकर उठ बैठी। हाथ पांव से पसीना छूट रहा था, मैंने हाथ जोड़ कर कहा—स्वामी दया करना, मैं भूल गई थी, सचमुच भूल गई, तुम इस दासी की एक भूल भी क्षमा न करोगे—पश्चाताप के आंसुओं ने मेरे मन के मैल को धो दिया। अब मैं पवित्र थी, साफ थी, मेरा दिल हलका था, अब कंगन याद आया-ओह इस पर सच मुच मैल जमी थी। कलाई में पड़े कंगन को ही भूल गई कभी-कभी अत्यन्त समीपस्थ चीजों को भी हम नहीं देख पाते मैंने कंगन को साफ किया—

प्रातःकाल मैंने वैसे ही बाल बांध लिए, एक साधी सी धोती पहन ली। इतने में ही रमेश आ गए। बोले, अरे यह क्या—अभी तक वैसे ही बैठी हो। खुशी के दिन कैसा उदास सा वेष बना रखा है।

इसमें बुरा क्या है रमेश बाबू? वेष तो जचता है। मैंने फिर से जो सुहाग पाया।

फिर से सुहाग, यह तो ठीक है। पर अभी विवाह जो होगा? 'नहीं रमेश बाबू' मैंने सुस्थिर भाव से कहा—औरत केवल एक बार ही विवाह करती है, मेरा सुहाग अटल हो गया—मेरे कंगन की मैल धुल गई—अब मुझे कुछ नहीं चाहिए। तुम जाओ, रमेश, तुम जाओ—

देवता इन्सान या पत्थर

डाक्टर प्रह्लाद को प्रैक्टिस करते अभी कुछ ही दिन हुए थे, पर उसका नाम इतने अल्प समय में ही खूब चमक उठा था। नगर भर के तो नहीं मुहल्ले और आस पास के गली-कूचों के सभी लोग उन्हीं के पास आते। आधा रोग तो डाक्टर को देख कर, उससे बातें करते ही दूर हो जाता और शेष पर उसकी दवाई जादू का प्रभाव करती। आपरेशन में उसके हाथ मशीन की फिरकी की तरह घूमते और फुर्ती से काम करते जैसे वे हाथ न होकर मशीन ही हों। उसका स्वभाव नम्र था और अपने पेशे के अनुकूल भी।

एकाध बार अपने बच्चे को दिखाने के लिए डाक्टर के पास जाना पड़ा। बस इतने में ही मैत्री हो गई। इसी तरह दूसरे दो-चार दोस्तों से भी वह हिल-मिल गया। प्रातः-सायं हवा खाने को निकलते, किसी काम जाते तो डाक्टर प्रह्लाद को बुला कर जाना जरूरी था। जिस दिन इस नित्य कर्म में बाधा आ जाती डाक्टर जरूर इस का कारण पूछता।

एक दिन संध्या के समय, मैं, गणेश, चाफिर और द्विवेदी सैर को निकले। सर्दियों का मौसम था। शाम के साढ़े छः बजे होंगे। निश्चय हुआ कि जमुना जी की ओर जाया जाय। डाक्टर की दुकान के पास से होकर गुजरे तो गणेश ने हमें रुकने को कहा और इशारे में हमें चुप रहने की आज्ञा भी दी। गणेश बड़ा चलता पुर्जा है और उसकी आँखें उसी परिमाण में तेज। हम दम साधे चुप रहे। डाक्टर की डिस्पैंसरी के दो

बड़े कमरे थे एक में वह स्वयं बैठता और रोगियों की परीक्षा करता तथा दूसरे कमरे में एक बड़ा लम्बा-सा मेज पड़ा रहता जिस पर लिटा कर वह रोगी का आपरेशन करता था, आंखों में दवाई आदि डालता था आपरेशन वाले कमरे की खिड़की बाहर सड़क की ओर खुलती थी। अंधेरा हो चला था। डाक्टर प्रह्लाद आपरेशन के कमरे में था। बहुत बड़ी रोशनी वाला लैम्प उसने जला रखा था। एक आदमी मेज पर सीधा लेटा हुआ था। आंखों का रोगी होगा। डाक्टर उसके चेहरे पर झुका हुआ शायद आपरेशन कर रहा था अपने काम में वह इतना मग्न था कि आसपास की उसे कुछ सुध न थी। डाक्टर की यह खास आदत थी कि वह किसी काम में लग जाता तो बहुत दत्त चित्त हो जाता। फिर वह दीनदुनिया का हाल इस तरह भूल जाता जैसे वह पूर्ण समाधिस्थ योगी हो, कोई चित्रकार हो या कोई कवि। डाक्टर को उस समय यह भी मालूम नहीं था कि उसके सामने ही मृग शाविका सी दो चंचल आँखें आशा, भय और विश्वास से टेबुल पर पड़े मर्द की ओर, कभी डाक्टर के शस्त्रों की ओर, और कभी सुशील और स्वस्थ डाक्टर के चेहरे की ओर घूमती फिरती थीं। गणेश की तीव्र दृष्टि से भला वे आंखें और आंखों वाली कहाँ बच सकती थी। उसे लक्ष्य कर ही उसने हमें चुप रहने को कहा था। उस युवती की सुन्दरता का अन्दाजा लगाना भी एक काम था। मालूम होता था कारीगर ने अपना हस्त-कौशल दिखाने के लिए सुन्दरता के साँचे से निकाल कर इस अशेष रमणीय मूर्ति को डाक्टर प्रह्लाद के सामने रख दिया हो। सौन्दर्य अपने खुले और आकर्षक वेष में टेबल के दूसरी ओर खड़ा था और बीच में थी खाई वह मर्द, साक्षात् व्यवधानस्वरूप, फिर भी न तो गहरी ही और न उल्लंघ्य। इस पर भी डाक्टर उस खाई को लाँघकर आगे क्यों नहीं जाना चाहता। क्या डाक्टर देवता हैं? ऐसी रूपराशि की अवहेलना कर सके इतनी हिम्मत देवता भी शायद ही कर सकें। वे तो सचमुच ईमान खो बैठते, स्वर्ग छोड़ देना स्वीकार

कर लेते ! हमें चुप रहने को कहकर सब से पहले गणेश ही बोला—'चलो यार चलो ! और अधिक नहीं ठहर सकता। यह डाक्टर भी कोई इन्सान है।' बाकिर तड़प के बोला—'तो क्या हैवान है।' द्विवेदी ने कहा—'पत्थर !'

मैं क्या कहता ! डाक्टर सचमुच उस वक्त इन्सान से कुछ ऊपर दिखाई दिया। उसके पत्थर और हैवान होने में तो मुझे विश्वास नहीं था। अधिक वहाँ ठहरना उचित न समझ कर हम चल पड़े। पर हमारे पाँव जैसे विद्रोह कर रहे थे। आँखों की भावना शायद उन्होंने पढ़ ली थी। गणेश प्रसाद अधिक चंचल हो रहा था। वहाँ खड़ा रहना उसके लिए अधिक कष्ट कर प्रतीत हो रहा था। बोला—'चलो भाई ! जमना पर अब क्या खाक जाओगे ! चलो चाँदनी चौक माल रोड ! उसकी अतृप्त आँखें सम्भवतः कुछ और चाहती हों।'

हम चल पड़े, परन्तु उस तन्वी कोमल रमणी को एक बार फिर आँख भर देख लेने का मोह संवरण न कर सके। डाक्टर कितने सौभाग्यशाली होते हैं। यही शायद हम सब सोच रहे थे। हमने पीठ फेरी। उधर डाक्टर का ध्यान भंग हुआ। सुन्दर रमणी और डाक्टर ने एक साथ बाहर की ओर देखा। वहां शून्य अन्धकार ही था ! जरा दूर एक लैम्प पोस्ट पर पतंगे व्यर्थ जलने की कोशिश कर रहे थे। डाक्टर आधा काम समाप्त कर चुका था। उस ने माथे से पसीना पोंछा और अपने बिल्कुल समीप ही एक अद्वितीय सुन्दरी युवती को आँखों में आशा, भय और कृतज्ञता लिए हुए देखा ! उसे अनुभव हुआ पतंगों का श्रम असफल हो पर व्यर्थ नहीं। वह सिहर उठा, उसकी चेतना सजीव हो गई। वह अपनी मानवोत्तर दशा से नीचे आ गया था। वह अभी-अभी तो डाक्टर हुआ है। इसीलिए हर काम को लगन और तत्परता से करता है। लेकिन अब उस में का डाक्टर दूर जाकर आदमी जग पड़ा था। वह देखता ही रह गया। उसे अपने कमरे की रोशनी और भी अधिक उज्ज्वल दीख पड़ी। उसे ऐसा प्रतीत

होने लगा कि बत्ती की रोशनी में भी सुन्दरता का भाग उस नारी को छाया ही है। क्षण भर में ही वह सुन्दरता की गहराई में डोलता, दूर तक चला गया। उस पर फिर वही योग निद्रा सी छा गई। पहले वाली समाधि अविचल थी—स्पन्दन हीन, कर्मनिरत। किन्तु इसमें था घोर झंझावात, आविर्भूत मोह। डाक्टर सोचने लगा क्या हो? उसके क्रियाशील हाथ जो कभी न चूकते थे बेसमझी की बातों में उलझ पड़े। सामने खड़ी युवती ने कहा—"डाक्टर बाबू, क्या इनका आपरेशन ठीक हो गया? तुम्हारा नाम प्रहलाद है। डाक्टर मेरे स्वामी की आँखें बख्श दो। इन आँखों के बिना मैं अन्धी हूँ, डाक्टर!" डाक्टर के कान भला उन शब्दों को क्या सुनते! पर उसके मधुर स्वर ने डाक्टर के श्रवणों में अमृत सी मिठास अवश्य उडेल दी। डाक्टर तन्मय होकर देख रहा था, गोधूलि में चांद का सुन्दर टुकड़ा! राहु द्वारा ग्रस्त, यदि उसे धूलि से निकाल किसी रेशमी वस्त्र में रखे। राहु की बजाए किसी उत्तम नक्षत्र के पास बिठा सके। डाक्टर ने सुना 'इन्हीं आँखों से मैं देखती हूँ, डाक्टर बाबू!' पगली कहीं की! मूर्ख! इतनी सुन्दर और रस भरी आँखें क्या किसी अन्य रोशनी की मोहताज हो सकती हैं। यह रोगी, भोंदा-सा, कुरूप मनुष्य! जीवन भर न देख सकेगा। और यह मृगनयनी अवश्य देखेगी—मेरे हृदय में बैठकर पाएगी संसार भर का प्यार तथा मोह, मेज के एक ओर उसे मिटाने का दूसरी ओर उसे बनाने का प्रयत्न चल रहा था। और बीच में पड़ा आँखों का रोगी निश्चल भाव से बेहोश पड़ा था डाक्टर सोच रहा था 'क्यों मैं इसीलिए बना हूं कि लोगों को चीर-फाड़ कर उनकी सफाई करके उन्हें रोग मुक्त करता जाऊं? क्या प्यार करना, सुन्दरता की इच्छा करना मेरे लिए मना है? पुष्प को दूर से देखकर आंखों को तृप्त करने की भावना ठीक है पर फूलों के हार को गले में डाल कर जो आनन्द और नशा आता है उसका जवाब कहाँ? बस वही नशा मुझे चाहिए। इससे अधिक कोमलता और रमणीयता

की कल्पना भले ही की जा सकती हो। फिर क्यों छोड़ दूं।

डाक्टर ने फिर आपरेशन शुरू किया युवती ध्यानावस्थित हो डाक्टर का हस्तलाघव देख रही थी। उसकी एक-एक हरकत, उंगली की एक-एककरवट उसके हृदय को छू सी जाती थी। मालूम होता था उसके पति की आंख का नहीं, युवती के दिल का आपरेशन हो रहा हो? जहां उसे डाक्टर के दो निपुण हाथों पर विश्वास था वहां उसे अपनी नीरव प्रार्थना का भी कम सहारा न था। पर डाक्टर की आंखों में आँधी और बदली छा रही थी। डाक्टर के हाथ अपना काम ठीक कर रहे थे लेकिन मस्तिक उच्छृंखल होकर अजीब से जाले बुन रहा था और डाक्टर के ख्याल में उस के हाथों ने विभाग का साथ दिया यहाँ उसकी विजय थी आँखों पर पटी बांध कर डाक्टर बोला-देवी इन्हें घर ले जाओ। इसी स्टेचर पर उठा लो। आदमी मैं साथ किये देता हूं। आराम से लिटा देना। मैं घर पर जाकर देख आऊंगा। सौन्दर्य भार से दबी युवती कृतज्ञता के बोझ से और भी दब गई। उसकी बोझल आंखे ही सब कुछ कहे देती थीं। फिर भी मचले हुए आंसुओं की तरह शब्द अधरों पर आ रहे मानो वायु से फूलों की पत्तियां हिलीं 'डाक्टर बाबू इनकी आंखें ठीक हो जायं। जन्म भर एहसान मानूंगी। डाक्टर क्या कहता! उसने एक दूसरे का उजाला छीन कर मन में अंधकार भर लिया था। बोला-जाओ देवी, तुम्हारा अन्धकार सदा के लिए दूर हो गया। डाक्टर की बात युवती क्या समझती। वह स्टेचर के पीछे सुन्दरता बखेरती जा रही थी जैसे डोली के पीछे फूलों की वर्षा हो रही हो।

जाने वह युवती जाती हुई एक चितवन में डाक्टर के मन के कोने के कौन से तार हिला गई कि पानी में गिरी ईंट की भांति उसके मन में भी लहरें आने लगीं—जो निर्मल न होकर गर्दाब का परिचय ही देती थीं। डाक्टर का मन सचमुच अन्धकार से भर गया। भीतर का अन्धकार जब बाह्य को भी आच्छादित करने लगा तो डाक्टर घबरा उठा

अंधा बनाने की दवाई गरीब रोगी की आंख में ? क्या वह अच्छा हुआ ? दोनों हार खा गये, डाक्टर भी और उसमें का मनुष्य भी। अब क्या करूं ? वास्तव में मैं उखड़ गया, भूल गया। उसने डिसपेंसरी बन्द करने को कहा और स्वयं घर की राह ली। अन्धेरे कमरे में जाकर वह बत्ती भी न जला सका। अपने अभीतर के अन्धेरे से कमरे के अन्धेरे की तुलना जो वह करना चाहता था। वह छटपटाने लगा भीतर जाकर कमरे को उज्जवल करने का साधन वह न जुटा सका फिर अन्तर के अन्धतम प्रदेश में उजाला कहां से आता एक क्षीण रेखा ही सही, वह बहुत कुछ सोच रहा था। लेकिन अन्धे को अन्धेरे में कहां सूझता ? एक दम उसने देखा वही सुन्दरी अपनी अमल उज्जवल मूर्ति लिए खड़ी है। आंखों में करुणा है। मानो कह रही है—डाक्टर मेरे स्वामी की आँखें मिल जायें ? लेकिन डाक्टर ने देने की बजाय केवल पाना चाहा था, वही उसकी भूल थी। डाक्टर रोने लगा। उसे अपने रोने पर विश्वास नहीं था तो भी वह रो रहा था। वह रो-रोकर अपनी आंखें दे देगा ? इससे क्या सुन्दरी के स्वामी की आंखें मिल सकेंगी ? जाने डाक्टर कब सो गया। प्रातःकाल उठा तो उसके चहरे पर सूखी हुई बाढ़ के रास्ते की तरह अजस्र अश्रुधारा के निशान पड़े हुए थे, अन्धकार में मार्ग ढूंढते थक कर मानो उसके हाथ जुड़ गये थे। क्या मैंने अज्ञात से निवेदन किया ? क्या वह ठीक हुआ ? स्वप्न में ही सही क्या मैंने प्रार्थना की ? फिर भी डाक्टर तबीयत में कुछ हल्कापन अनुभव कर रहा था। उसने नहा-धोकर डिस्पैंसरी का रास्ता लिया।

उस दिन प्रातःकाल की सैर से हम वापिस लौट रहे थे। हम चारों ही गणेश, बाकिर, द्विवेदी और मैं। फिर डाक्टर की दुकान के पास से होकर गुजरे तो देखा—डाक्टर एक बूढ़े दरिद्र के बच्चे का ज़ख्म धो रहे थे। बच्चे की टांग में भयंकर बदबू से भरा फोड़ा था, जिसमें से पीप झर रही थी। हमारे लिए तो वहां तक जाना भी

दुस्तर हो गया। लेकिन डाक्टर बड़ी तन्मयता से उसके मवाद को साफ़ कर रहा था। ठीक वैसे ही जैसे गाँव की गृहिणी अपने कच्चे घर को साफ करती हो। इन दिनों डाक्टर निर्धनों और अपाहजों का काम अधिक प्रीति से किया करता था। शायद वह अन्धेरे को दूर करने का प्रयत्न हो। गणेश मुंह फेर कर खड़ा था। मैंने पूछा—'बताओ गणेश डाक्टरी का पेशा कैसा है?' गणेश कुछ बोला नहीं। दो कदम और दूर जा खड़ा हुआ। इतने में ही उस रात वाली युवती तेजी से आती हुई दिखाई दी। मालूम होता था उषा आकाश से उतर आई है। हमने रास्ता छोड़ दिया। वह जल्दी से डाक्टर के समीप जाकर बोली—'डाक्टर बाबू तुम हजार वर्ष जीओ! उनकी आँखें ठीक हो गईं। अब वे देख सकते हैं।' डाक्टर प्रह्लाद भौचक्का सा रह गया। वचन देकर भी वह रोगी के घर उसे देखने नहीं गया था। न तो वह तीव्र उत्कंठा से अपने में अधिक अन्धेरा भरना चाहता था और न ही घर वालों का अन्धेरा बढ़ जाने की बात सुनने का इच्छुक था। लेकिन युवती की बात उसे यों लगी जैसे ऊसर भूमि में देखते-देखते लहलहाता खेत उग पड़े। उसकी आंखों में खुशी चमक उठी। वह एक दम उठा युवती के एकदम पास आ गया। शायद उसे गले लगा लेता लेकिन रुक गया। बोला—बहन, यह अच्छा हुआ। बहुत अच्छा हुआ। तुम उन्हीं को धन्यवाद दो बहन, जिन्होंने तुम्हारे पति की आंखें ठीक कीं और मेरे मन का अन्धकार मिटा दिया।

गणेश ने कहा...'चलो बाकिर, डाक्टर आदमी नहीं, पत्थर है।' मैंने कहा—'नहीं देवता है। द्विवेदी बोला—प्रह्लाद डाक्टर भी है और मनुष्य भी।

तसवीर का फ्रेम

यों तो मेरे बहुत से मित्र हैं, पर जो बात मोहनलाल में है वह किसी दूसरे में नहीं पाई जाती। यह नहीं कि वह मेरा सबसे पक्का और सच्चा दोस्त है, न, ज़ैसे और हैं वैसा ही वह भी है, न पक्का न सच्चा, बस दोस्त है, और मुझे उम्मीद है उस खरगोश की तरह जिसे अपने बहुत से दोस्तों का भरोसा था पर वक्त पर कोई काम न आया था, मोहनलाल भी काम न आएगा, तो फिर सब को छोड़ कर उसी का तज़किरा क्यों ?

सवाल वाजिब है, तो इसका जवाब भी खुद मोहनलाल है।

मैं हैरान हूँ उसका यह नाम मोहन लाल किसने रख दिया ? यह कसूर उसका नहीं। जिस तरह जन्म-जन्म की दुखियारी को भाग्यवती या सुखदा कह देते हैं या जैसे आँख के अन्धे का नाम नयनसुख की कहावत मशहूर है, बस यही बात मोहनलाल की भी समझिए, यह कहावत उस पर खूब बैठती है।

सीधा सादा साधारण सा आदमी, रूप-रंग तो भगवान् की देन है, अपना कोई बस नहीं, वह सम्मोहन या वशीकरण मन्त्र तक नहीं जानता, बात करता है तो जैसे कुल्हाड़ी चला दी, वह भी इस तरह कि फल तो निकल के लगे सुनने वाले के और दस्ता जा लगे पास पड़े कुत्ते के, दोनों चिल्लाए, एक के जख्म हुआ और दूसरे के दर्द, मतलब यह कि उसमें कोई आकर्षण नहीं फिर भी सबसे बड़ी शिकायत उसे यह है कि दुनिया में उसे कोई नहीं चाहता। माँ-बाप, भाई-बहन, संगी-

साथी तो भला क्या चाहेंगे। दुःख तो यह है उसके जीवन भर का साथी, उसकी अपनी बीवी भी उससे मुहब्बत नहीं करती।

बीवी के सम्बन्ध में वह अन्तिम बात वह जरा ज्यादा ज़ोर से कहेगा जैसे उसके गाने का सम नहीं पूरा होता हो और तान भी वहीं टूटती हो। लाखों बार उससे यह शिकायत सुनने पर जब आप उससे पूछेंगे जैसा कि मैंने कई बार पूछा है तो वह अपनी पत्नी के गुणगान करने लगेगा।

"भाई नरेश, तुम्हारी यही बुरी आदत है कि तुम हर बात में सोमा का ही पक्ष लेते हो, मैं कहता हूं, वह बड़ी नेक है, सुशील है, घर का धन्धा संभालती है, मेरे कपड़े धोती है, बच्चों का पूरा-पूरा ख्याल रखती है, दुःख-सुख में जी-जान से मेरी सेवा करती है, मेरे दुष्ट मित्र आ जाएं तो कभी कुढ़ती नहीं, थोड़ा-बहुत जितना कमा पाता हूँ उतने में गुजारा भी कर लेती है, फिर भी....."

"कहो, फिर भी क्या ? फिर भी...तुम बकते हो, बकते हो, वह चुप रहती है, तुम पड़े सोया करो, वह साग सब्जी ले आती है, तुम्हारे लिए चाय तैयार करती है, फिर भी वह तुम्हें नहीं चाहती—कम्बख्त, और चाहना किसे कहते हैं ?"

मेरे इतना कहते ही वह जल जाएगा, चिढ़ कर कहेगा :

"तुम नहीं जानते नरेश, सच्चा प्रेम, असली मुहब्बत और ही चीज़ है ?"

"अच्छा भई, नहीं जानते तो तुम्हीं बता दो।" इस पर वह बुरी तरह बल खाएगा जैसे पेट में दर्द होने लगे, या कड़ाही में गर्म दूध उबाल खा रहा हो—"मुहब्बत की तशरीह कोई कर सकता है, प्रेम को शब्दों में प्रगट किया जा सकता है ? कभी नहीं।"

"फिर भी तुम चाहते हो तुम्हारी बीवी तुम्हें कहे, प्रियतम, मैं तुम पर प्राण न्योछावर करती हूं, तुम मेरे नयनों की ज्योति हो। मूर्ख आदमी, जिस दिन उसने तुम्हें इस तरह बुलाना शुरू किया तो

समझ लेना उसके हृदय का प्रेम स्रोत सूख गया है।"

"तो तुम क्या चाहते हो, वह मुझे यह कहा करे—मैं तुमसे नफरत करती हूं, तुम्हारी सूरत से बेज़ार हूँ भलेमानस। दिन भर कोल्हू की तरह जुते रहना भी कोई प्रेम है, जिन्दगी में एक बार भी स्नेह भरे दो शब्द न कहे जाएं।"

मैंने उसे कई बार समझाया है कि स्त्रियों का मौन—समर्पण ही गृहस्थों के जीवन का सच्चा रस है। पर वह एक नहीं मानता। उसकी कोरी भावुकता यह चाहती है कि बीवी उसका बूट रोगन कर रही हो तो उसे बूट और रोगन दोनों में से मोहनलाल की बू बास आए, कमीज को साबन लगा रही हो तो साबुन और पानी में से यहां तक कि धोने की आवाज़ में से भी मोहन मोहन की धुन निकले, उसकी बीवी आह भरे तो आहों के धुंए में से भी मोहनलाल के चित्र बनते जा रहे हों।

जाने यह भावुकता उसकी जिन्दगी में कैसे घर कर गई, शायद इसी के बल पर ही वह कुछ लिख-लिखा लेता है और जब चाहे बीवी से लड़ भी लेता है। बीवी से लड़ाई भी क्या थी—"आज तुमने मेरी धोती चुन कर नहीं रखी," बस लगे बोलने, मशीन गन की तेज़ी से उनके मुंह से बातें ही नहीं निकलतीं, बम भी फटने लगते हैं और बेचारी सोमा चुपचाप सुनती रहती है। उसका मौन आग में तेल का नहीं, पैट्रोल का काम करता है और वह दहाड़े चला जाएगा, खूबी यह कि जब वह लिखता है तो इसी तेजी, सपाटे और जोर-शोर से उसकी कलम भी चलती है।

मैं, मोहनलाल का दोस्त और पड़ौसी, जब तब उसके घर जाना पड़ता है और कभी उसकी निराशाभरी बातें सुननी पड़ती हैं, तो कभी उसकी लड़ाई सुननी पड़ती है, लड़ाई देखनी नहीं सुननी ही पड़ती है, क्योंकि वह बोलता रहता है और उसके वाक्बाणों के साथ उसकी घर वाली का मौन और धीरज मुझे मोहन लाल की बातें सुनने का

धीरज प्रदान करता है। मुझे ऐसा लगता है कि वह नहीं वास्तव में उसकी पत्नी ही उसे दिल से चाहती है और इसीलिए उसकी ज्याद-तियां सहन करती है।

एक दिन एक जरूरी काम से मैं उसके घर गया तो क्या देखता हूं, सोमा आँखों में आँसू भरे एक उल्टे लटक रहे खाली काले फ्रेम (चौखटा) की ओर देख रही है, फ्रेम यों दिखाई देता था जैसे प्राण-हीन कंकाल, मैं वापस लौट ही रहा था कि उसने बुला लिया :

"भाई साहिब, बैठिए, वे अभी आते हैं, आज बड़े क्रोध में हैं।" इससे अधिक वह कुछ न बोल सकी। आज अवश्य कुछ विशेष घटना घटी है जिसने इस मौन तपस्विनी नारी को बोलने पर विवश कर दिया है।

मैं यह सोच ही रहा था और वह कुछ कहना ही चाहती थी कि इतने में मोहनलाल अपनी ज़बान रूपी मशीनगन से गोलियाँ चलाते जल्दी-जल्दी सीढ़ियाँ चढ़ते चले आ रहे थे। उनके सीढ़ियाँ चढ़ने की पगचाप नहीं पगरौव और वाणी का विलास नहीं बकवास मिल-जुल कर कुछ अजीब सा समा बांध रहे थे, और उसके हाथ में था एक अखबार, शायद गुस्से में आकर नीचे फेंक दी था और अब उसे उठाकर वापिस ला रहा था।

अखबार में उसकी एक कहानी छपी थी, तारीफ भी की गई थी और साथ दिया गया था उसका रेखाचित्र। वह बड़ी खुशी खुशी उसे घर लाया था, बीवी को दिखाने लगा तो उसने रेखाचित्र देख कर आंखों में आँसू भर लिए। उसके विचार से अखबारवालों ने उसके पतिदेव के चेहरे को बिगाड़ के रख दिया, हालांकि जैसा बिगड़ा हुआ वह था, उससे अधिक वह क्या बिगड़ता : और उसकी सबसे मूल्यवान् पूंजी उसके पति का फोटो जो बड़े लड़ाई-झगड़े और आमदनी खर्च का खूब हिसाब किताब मेल कर बनवाया गया था, उससे छिन गया था।

बात मेरी समझ में आ गई थी। कहानी अखबार में छपने की मोहनलाल को खुशी थी और बेहद। अखबारवालों ने चित्र मांगा होगा मोहनलाल जैसे लेखोपंजीवी व्यक्ति के लिए शायद यह पहला अवसर था, नया फोटो बनवाना एक समस्या थी, इसलिए उसने दीवार पर लटक रहा फ्रेम प्राणहीन कर दिया।

सोमा के लिए जैसे घर की रौनक ही उड़ गई। उसे वह फोटो बहुत प्यारा था। फोटो को देखने की उसकी आदत सी हो गई थी। फोटो का मोहनलाल न लड़ता था, न बकता था, बल्कि उतना ही मौन रहता था जितना कि मोहनलाल के बोलते समय सोमा चुप रहती थी। तो भी फोटो पर वह न तो फूल ही चढ़ाती थी और न कभी आरती-पूजा ही करती थी, यह तो दिखावा होता। मोहनलाल भले ही दिखावे से प्रसन्न हो जाता परन्तु सोमा को दिखावे का तनिक भी मोह न था। यह सब होने पर भी मोहनलाल के चित्र का वहां लटके रहना सोमा के जीवन का अंग बन गया था, उसके बिना उसे घर सूना-सूना लगता था, परन्तु मोहनलाल खुश था कि फोटो खराब गया तो क्या, कहानी तो छपी, रेखाचित्र तो निकला, नाम भी हुआ। उसे अब दुःख यह था कि उसकी बीवी, उसकी खुशी में भागीदार न बन कर उल्टा फोटो का रोना रो रही है, उसके सुख को कौन बंटाये, सब सराहना करें पर जब तक बीवी न उछल पड़े तो मज़ा ही क्या?

"इसने सब गुड़ गोबर कर दिया।" मोहनलाल ने आते ही मुझे देखा तो जरा सहज भाव धारण कर लिया।

"अच्छे मौके पर आ गए नरेश बाबू, अब देख लो इसके लच्छन, रोज़-रोज़ कहा करते हो न, इसे तुमसे बेहद मुहब्बत है।"

"मैंने ऐसा कब कहा है।" सोमा बीच में ही बोल उठी। उसके खयाल से जैसे अपना प्रेम प्रगट करना क्या जुर्म हो।

मोहनलाल धीरे धीरे उबल पड़ने लगा।

"इसे मुझसे नहीं मेरे फोटो से प्रेम है। कहती है घर सूना-सूना लगता है, पूछिए मैं न रहूं तब तो सूना-सूना नहीं लगता और कागज़ का फोटो इसी में है इसकी ममता।"

"तभी न तुम इसे उतार के ले गए।"

मैंने कहा, "आओ बाहर चलें....."

"तुम बड़े भाग्यवान् हो।"

"क्यों?" उसने पूछा।

"इसलिए कि तुम बड़े बेवकूफ हो, मुहब्बत को तुम क्या जानो और क्या जानो उसकी कद्र।" वह चलते-चलते अवाक् खड़ा हो गया और मेरे हृदय में सीमा की आँखों के आँसू एक टीस सी पैदा कर रहे थे। मैं सोच रहा था वह काला भद्दा लटका हुआ फ्रेम, मोहनलाल जैसे मेरे साथ आ रहा हो और सीमा उस फ्रेम की तस्वीर पीछे रह गई हो, जो होते हुए भी गुम है और फ्रेम वास्तविकता को भूल कर अपने आकार पर ही मिटा जा रहा हो।